

## नवउदारवादी दौर में देशभक्ति और राष्ट्रवाद के छल-छद्म

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में देशभक्ति बनाम अभिव्यक्ति की आजादी को लेकर फरवरी माह में जो बवंडर उठा था उसका धूल-गुबार अब काफी हद तक छँट गया है। यह सच्चाई आज सबके सामने है कि 9 फरवरी को जेएनयू के एक कार्यक्रम में कुछ लोगों द्वारा भारत-विरोधी और पाकिस्तान समर्थक नारे लगाते हुए जिस विडियो को कुछ समाचार चौनलों पर बार-बार दिखाकर देशभर में उन्मादी माहौल बनाया गया था, वह विडियो ही फर्जी था। गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने हाफिज सईद के जिस ट्वीटर सन्देश के हवाले से यह बयान दिया था कि जेएनयू की घटना को पाकिस्तानी आतंकी संगठन का समर्थन प्राप्त है, उस ट्वीटर अकाउंट को भी गृहमंत्रालय के अधिकारियों ने ही फर्जी बताया। जिन तीन छात्रों पर राजद्रोह का मुकदमा लाद कर गिरफ्तार किया गया था, उन्हें जमानत मिल गयी। केन्द्र सरकार और संघ परिवार द्वारा तमाम मनगढ़न्त और झूठे आरोपों के जरिये जेएनयू को बदनाम करने और देशद्रोही साबित करने के सभी प्रयास विफल हो गये। पूरे प्रकरण ने देशभक्ति और राष्ट्रवाद की दो परस्पर विरोधी अवधारणा को लेकर पुराने विवाद को दुबारा खोल दिया। इस मुद्दे को लेकर देश में जो खेमाबन्दी हुई और तर्क-कुतर्क का जो सिलसिला शुरू हुआ है उसका देश के भविष्य पर दूरगामी असर होना लाजमी है। यह वैचारिक संघर्ष भारत के इतिहास, वर्तमान और भविष्य को लेकर दो परस्पर विरोधी-दृष्टिकोणों के बीच है। हालाँकि प्रगतिशील विचारों के हामी लोगों के मन में इन मुद्दों पर कोई गलतफहमी नहीं है। बहुत पहले ही नकली देशभक्ति और छद्म राष्ट्रवाद की कलाई खुल चुकी है। फिर भी आज, जब विचार और व्यवहार के धरातल पर जाँची परखी स्थापित मान्यताओं को लेकर विभ्रम फैलाया जा रहा है तो उन सर्वमान्य सच्चाईयों को फिर से रेखांकित करना जरूरी है, ताकि देशभक्ति और राष्ट्रवाद की आड़ में प्रतिक्रियावादी ताकतों के असली मंसूबों को सामने लाया जा सके।

एक ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में राष्ट्रवाद का जन्म यूरोप में राष्ट्र-राज्यों के गठन की माँग के साथ सोलहवीं सदी में हुआ

था। यह सामन्तवाद के पतन और पूँजीवाद के उभार का दौर था। इसके मूल में नवोदित पूँजीपति वर्ग द्वारा अपने लिए राष्ट्रीय बाजारों की स्थापना का मंसूबा था। राष्ट्र का आधार किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में एक भाषा बोलने वाले एक समान सांस्कृतिक परिवेश में जीने वाले लोग थे, जिनकी राष्ट्र के रूप में अलग पहचान और उस राष्ट्र राज्य की सम्प्रभुता स्थापित करना उस दौर के पूँजीपति वर्ग का लक्ष्य था। उस खास इलाके के शोषण और लूट पर उसी राष्ट्र के पूँजीपति अपना वर्चस्व चाहते थे, जैसे अंग्रेज ब्रिटेन के ऊपर, फ्रांसीसी फ्रांस के ऊपर, इटालियन इटली के ऊपर अपना एकछत्र राज्य चाहते थे। इस तरह राष्ट्रवाद का प्रेरक विभिन्न इलाकों के राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग का आर्थिक स्वार्थ था। इसमें दूसरी राष्ट्रीयताओं के प्रति नफरत और जोर जबरदस्ती अन्तर्निहित थी। इसी राष्ट्रीयता के चलते यूरोप में विभिन्न इलाकों और भाषाभाषी लोगों के बीच खूनी संघर्ष हुआ। राष्ट्र के नाम पर ही मुट्ठी भर पूँजीपति एक बड़ी आबादी को अपने हितों की रक्षा के लिए एकजुट करने और अपना अनुयायी बनाने में सफल हुए। निश्चय ही राष्ट्रीयता की पहचान ने यूरोपीय राष्ट्रराज्यों के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, लेकिन इसने वर्गीय आधार पर एक ही राष्ट्रीयता के भीतर होने वाले शोषण, विषमता और भेदभाव पर पर्दा डालने का भी काम किया।

भारत में राष्ट्रवादी चेतना का उदय अंग्रेजी राज में उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के दौरान हुआ था। अंग्रेजों के आने के साथ ही भारतीय समाज के ऐतिहासिक विकास की स्वाभाविक गति अवरुद्ध हुई। यहाँ सामन्तवादी समाज से पूँजीवादी समाज में संक्रमण के दौरान स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के मूल्यों पर आधारित एक स्वस्थ पूँजीवादी समाज के विकास की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई। अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने भारतीय सामन्तवाद को मजबूत किया और उसे अपना सामाजिक अवलम्ब बनाया। साथ ही उसने पूरे भारत में एक उपनिवेशवादी संरचना को जन्म दिया और औपनिवेशिक दासता को कायम रखने के उद्देश्य से प्रशासनिक तंत्र, रक्षा तंत्र, शिक्षा व्यवस्था, कानून इत्यादि की स्थापना की। कालान्तर में इस

उपनिवेशवादी संरचना के प्रभाव में और उसी के भीतर से एक बहुत ही छोटा सा मध्यम वर्ग पैदा हुआ। साथ ही इस औपनिवेशिक ढाँचे के भीतर से एक विकृत पूँजीवाद भी विकसित हुआ। यही मध्यम वर्गीय तबका राष्ट्रवाद का वाहक बना। राष्ट्रवाद के जन्म के लिए यह जरूरी शर्त है कि समाज और जनमानस में मौजूद जातिवाद, भाषायी और क्षेत्रीय संकीर्णता के विभाजन कमजोर हों और राष्ट्रीय पहचान की चेतना का विकास हुआ हो। सुधारवादी आन्दोलनों और राष्ट्रीय नेताओं ने इस दिशा में एक हद तक प्रयास किया। उन्होंने सामन्ती संस्कृति के संकीर्ण सामाजिक बँटवारों और आपसी भेदभाव पर यथासम्भव प्रहार किया तथा जनता के बीच एकता और देशप्रेम का प्रचार किया। इसके मूल में अंग्रेजों के शोषण-उत्पीड़न और भारतीय जनता को गरीबी, भुखमरी से छुटकारा दिलाने के लिए मिलजुल कर संघर्ष करने का लक्ष्य था। इस सम्बन्ध में 1901 में प्रकाशित दादा भाई नैरोजी की पुस्तक “भारत में गरीबी और गैर-ब्रिटिश शासन” की महत्वपूर्ण भूमिका थी, इसके अलावा अंग्रेजी राज की आलोचना करते हुए कई राष्ट्रीय नेताओं ने लेख और पुस्तकें लिखकर जनता को जागृत किया। राष्ट्रवादी साहित्यकारों ने गीत, कविताएँ, कहानी और उपन्यास लिखे। उन्होंने भारतीय जनता की कंगाली और बदहाली के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन को जिम्मेदार ठहराया और राष्ट्रवादी विचारों से लैस होकर उसके खिलाफ संघर्ष का आह्वान किया।

संकीर्ण सामाजिक भेदभाव और बँटवारों से ऊपर उठकर व्यापक जनता की एकता पर आधारित राष्ट्रवादी आन्दोलन की धारा काँग्रेस में मूर्त हुई। गाँधी के आह्वान पर राष्ट्रीय आन्दोलन में बड़े पैमाने पर जनता की भागीदारी शुरू हुई। साथ ही भावी भारत की तस्वीर भी सामने आयी, जो काँग्रेस के कराची अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव में अभिव्यक्त हुई। इसमें राजनितिक स्वतंत्रता को असंख्य भूखे लोगों की आर्थिक स्वाधीनता के साथ जोड़ा गया। सार्विक मताधिकार, धर्मनिरपेक्षता, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, स्त्री-पुरुष समानता और सामाजिक न्याय को लोकतांत्रिक राष्ट्र की बुनियाद बताया गया। राष्ट्रवाद की इसी अवधारणा के साथ सहमती जताते हुए उस दौर के समाजवादी और साम्यवादी नेता और कार्यकर्ता भी काँग्रेस के कार्यक्रमों में शामिल हुए और उसका समर्थन किया। इस समझ के आधार पर राष्ट्रीय आन्दोलन तेजी से आगे बढ़ा तथा इसमें मजदूरों, किसानों, महिलाओं और शोषित-पीड़ित तबकों की भागीदारी बढ़ती गयी। लेकिन इसी दौरान राष्ट्रवाद की इस अवधारणा के प्रति साम्प्रदायिक हिन्दु-मुस्लिम संगठनों और नेताओं का विरोध भी सामने आया। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में धर्म और भाषा के भेद को आधार बताते हुए कहा गया था कि भारत एक राष्ट्र नहीं है। इसने दो राष्ट्र के बेबुनियाद और मनगढ़ंत सिद्धान्त को मजबूती प्रदान की क्योंकि यह सर्वविदित है कि राष्ट्रवाद का आधार केवल भाषा संस्कृति और निश्चित भूभाग होता है, धर्म इसका घटक नहीं होता। एक ही राष्ट्र के भीतर कई धर्मों के

अनुयायी शामिल होते हैं। बहरहाल अंग्रेजों की चाल सफल रही। 1925 में स्थापित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने “हिन्दू राष्ट्र” को अपना आदर्श बना लिया जिसमें मुसलमानों या अल्पसंख्यकों के लिए कोई जगह नहीं थी। दूसरी ओर रहमत अली ने 1930 में पाकिस्तान की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसे मुस्लिम लीग ने 1940 में स्वीकार किया। इस तरह अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक साम्प्रदायिक शक्तियों ने धर्म के आधार पर दो राष्ट्र के सिद्धान्त और भारत के विभाजन को बढ़ावा दिया। इसने राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर किया और ‘अंग्रेजों के बाँटो और राज करो’ के मसूबे को मजबूत किया। यही नहीं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने स्वाधीनता आन्दोलन से हमेशा अपने आप को अलग रखा। जिस समय पूरा देश आपसी भेदभाव भुलाकर आजादी की लड़ाई लड़ रहा था, उस समय वे हिन्दुओं के तथाकथित स्वाभिमान को जगाने, अल्पसंख्यकों के खिलाफ नफरत फैलाने और दंगे कराने में लिप्त थे।

मुख्य धारा की राष्ट्रवादी राजनीति के प्रयासों और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद भी विशेष राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के संयोग से 1947 में भारत को राजनीतिक आजादी हासिल हुई। संविधान में लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के आदर्शों को शामिल किया गया। लेकिन भारतीय राज्य लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय को अमलीजामा पहनाने में अक्षम साबित हुआ। पूँजीपति वर्ग को दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की का मौका दिया, लेकिन व्यापक जनता की बदहाली दिनों-दिन बढ़ती गयी। सामन्तवाद से समझौते के कारण उसके आर्थिक आधार को निर्मूलन नहीं किया गया। साथ ही प्रतिगामी सांस्कृतिक मूल्य-मान्यताएँ भी कायम रहीं। नये शासक वर्ग ने जनता से किये गये वादों को पूरा करने से मुँह मोड़ लिया। फलस्वरूप, राष्ट्रीय आन्दोलन की सकारात्मक ऊर्जा आजादी मिलने के साथ ही क्षरित होनी शुरू हो गयी। जन आकांक्षाओं को पूरा करने और जनता के जीवन में खुशहाली लाने में अक्षम तमाम पूँजीवादी पार्टियों ने धर्म और जाति के नाम पर जनता के मन में फूट डालने का काम किया। काँग्रेस से मोहभंग का लाभ उठाते हुए साम्प्रदायिक हिन्दू संगठनों ने अपना आधार जमाना शुरू किया। बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुजरात नरसंहार घटनाओं को काँग्रेस ने मौन समर्थन दिया, जिसने हिन्दू वोटों के ध्रुवीकरण और भाजपा के सत्तासीन होने में सहायता पहुँचायी। 1982 में भाजपा के केवल दो सांसद थे जो बढ़ते साम्प्रदायिक विद्वेष के साथ यह बढ़ते-बढ़ते अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा सरकार और 2014 में नरेन्द्र मोदी की पूर्ण बहुमत वाली सरकार के रूप में परिणत हुआ।

2014 में भाजपा ने हिन्दू राष्ट्र के नाम पर नहीं, बल्कि नरेन्द्र मोदी को विकास पुरुष के रूप में प्रस्तुत करके चुनाव लड़ा। मनमोहन सिंह की सरकार की नव उदारवादी नीतियों— निजीकरण, उदारीकरण के चलते लोगों का जीना दूबर हो गया था। ऐसे में

लोगों के सामने नरेन्द्र मोदी की छवि सारी समस्याओं का हल करने वाले करिश्माई व्यक्ति के रूप में पेश की गयी तो लोगों को निराशा के माहौल में इससे उम्मीद जगी और इसका भरपूर लाभ भी भाजपा को मिला। लेकिन सत्ता में आते ही मोदी सरकार ने मनमोहन सिंह की पूँजीपरस्त नव उदारवादी नीतियों को बड़-चढ़कर लागू करना शुरू किया। चुनाव में किये गये वादे खोखले साबित हुए। तीन महीने में काला-धन वापस लाने वाले विकास पुरुष ने सरकार में आने पर काला-धन के मालिकों और सरकारी कर्ज हड़पने वालों के नाम बताने से भी इन्कार कर दिया। भ्रष्टाचार का दानव पहले की तरह ही दहाड़ता रहा। अदानी, अम्बानी जैसे चहेते पूँजीपतियों के लिए सरकारी खजाने का मुँह खोल दिया गया। हर क्षेत्र में विदेशी पूँजी को न्योता और उनके लिए हर तरह की छूट की घोषणा की गयी। 24 घंटे बिजली, फसलों के वाजिब दाम, नौजवानों के लिए रोजगार, महँगाई पर रोक जैसे वादे उलटे अर्थ में सामने आये। रोजगार देना तो दूर, हर जगह छँटनी तालाबन्दी शुरू हुई, बेरोजगारी पहले से भी तेजी से बढ़ने लगी। पहले से भी अधिक संख्या में किसानों ने आत्महत्या की। अच्छे दिन लाने का जुमला मजाक में बदल गया। सरकारी स्कूल बन्द किये गये, कॉलेज, विश्वविद्यालय की फीस में बेतहाशा बढ़ोतरी हुई, छात्रों के वजीफे बन्द किये गये। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सहूलियतों और सरकारी सहायता में भारी कटौती करके बदले में पूँजीपतियों के टैक्स माफ किये गये और उन्हें हर तरह की सहूलियतें दी गयीं। दलितों, आदिवासियों, अल्पसंख्याकों और वैचारिक विरोधियों पर हमला तेज हुआ। यही नहीं सरकार की तरफ उठने वाली हर आवाज को दबाने के लिए देश में अघोषित आपातकाल जैसी स्थिति पैदा कर दी गयी। एक साल बीतते-बीतते विकास पुरुष की कलाई खुल गयी।

आर्थिक क्षेत्र में कांग्रेस सरकार से भी खराब प्रदर्शन और उससे उत्पन्न जनता के असन्तोष से ध्यान हटाने वाले मुद्दे उछालने और हिन्दू राष्ट्र के एजेंडे को आगे बढ़ाने का प्रयास 2014 में सरकार बनने के बाद से ही शुरू हो गया। देशी-विदेशी पूँजी की सेवा के समान्तर लव जेहाद, घर वापसी, गो मांस पर रोक, पाठ्यक्रमों में फेर बदल, भारत के अतीत का महिमामंडन, विश्वविद्यालयों का साम्प्रदायीकरण, अकादमिक संस्थानों में अयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति और उन संस्थाओं का अवमूल्यन, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष कला-संस्कृति पर हमले और उन पर रोक जैसी कार्रवाइयों में संघ से जुड़े संगठनों को भरपूर सरकारी संरक्षण दिया गया। देशभक्ति बनाम देशद्रोह का विवाद और हिन्दू राष्ट्रवाद का उन्मादी प्रचार इसी की अगली कड़ी है। आज हमारे देश में गम्भीर आर्थिक संकट, बढ़ती बेरोजगारी, खेती की तबाही, भुखमरी, गरीबी, सामाजिक विघटन, भ्रष्टाचार, लूट-खसोट, प्राकृतिक संसाधनों का बेतहाशा दोहन और पर्यावरण विनाश जैसी समस्याएँ अपने चरम पर हैं। इन असली समस्याओं से ध्यान हटाकर फर्जी राष्ट्रवाद का गर्द-गुबार फैलाना और इसके खिलाफ उठने वाली आवाज को दबाना क्या

यही देशभक्ति है?

आज के दौर में भारत सहित दुनिया भर के राष्ट्रवाद के अलम्बरदारों ने वैश्वीकरण करने और राष्ट्रवाद को तिलांजलि देने का सामूहिक निर्णय लिया। यूरोप के एकीकरण से इसे समझा जा सकता है, जहाँ किसी दौर में भाषाई-भौगोलिक इलाके के बँटवारे के लिए खूनी संघर्ष चला था, लेकिन अब सभी राष्ट्रों के शासक-पूँजीपति आपस में मिलकर लूटने-खाने पर सहमत हो गये। यानी राष्ट्रवाद जो राष्ट्रीय मंडियों में पैदा हुआ था और अब विश्वव्यापी मंडी में तिरोहित हो गया।

भारत के काथित राष्ट्रवादी भी जो कभी स्वदेशी का राग अलापते थे, अब विदेशी बाजार से अपना भाग्य जोड़े हुए हैं। डॉलर महाप्रभु की आरती करते हैं और देश में विदेशी पूँजी निवेश के लिए लालायित रहते हैं। लेकिन जनता को धोखा देने के लिए उसे राष्ट्रवाद ही नहीं, बल्कि अंधराष्ट्रवाद की घुट्टी पिलाते हैं। उनका राष्ट्रवाद पाकिस्तान और मुसलमान के खिलाफ विषवमन से शुरू होता है और वहीं जाकर खत्म हो जाता है। लेकिन जब नीतिगत फैसला लेना होता है तो राष्ट्रवाद नहीं बल्कि वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की नीतियाँ ही लागू की जाती हैं। दूसरी ओर जनता के असन्तोष और आक्रोश की दिशा भटकाने के लिए छद्म राष्ट्रवाद का सहारा लिया जाता है। देश की असली समस्याओं से ध्यान हटाने के लिए जनता को देशभक्ति की अफीम चटायी जाती है।

यह छद्म देशभक्ति कुर्सी पाने और बचाने तक ही सीमित है। इसमें देश के गरीब किसानों, मजदूरों, दलितों-शोषितों और महिलाओं के लिए कितनी जगह है, इसे इन देशभक्तों के शब्दजाल से नहीं, बल्कि उन लोगों के प्रति उनके रोज-ब-रोज के रवैये से समझा जा सकता है।

जैसा की पहले बताया गया है, हमारे देश में राष्ट्रवाद का जन्म उपनिवेशवादी विदेशी शासकों के खिलाफ संघर्ष में जनता की एकता के अस्त्र के रूप में हुआ था। विडम्बना है कि आज के शासक जो यहाँ के प्राकृतिक संसाधनों और सस्ती श्रम शक्ति को लूटने का प्रलोभन देकर खुद ही विदेशी पूँजी को निमंत्रित कर रहे हैं, वे आज राष्ट्रवाद के सबसे बड़े पैरोकार बन गये हैं। वे विदेशी हमलावरों के लिए लाल कालीन बिछा रहे हैं और उनके हमले का शिकार होने वाली और उनके विरोध में खड़ी आम जनता के खिलाफ राष्ट्रवाद का नारा लगाते हुए दमन चक्र चला रहे हैं। वे जनता के ऊपर अंग्रेजों द्वारा बनाया गया 1898 का देश-द्रोह कानून लाद रहे हैं। उनका यह राष्ट्रवाद देश और जनता को एकजुट करने वाला नहीं बल्कि विघटनकारी है, शत्रु सहयोगी है।

साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में अपनी ऐतिहासिक प्रासांगिकता से रहित राष्ट्रवाद भले ही हिन्दू राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आवरण में दिखता हो, लेकिन वह छद्म राष्ट्रवाद, संकीर्ण राष्ट्रवाद, अतिवादी राष्ट्रवाद, आक्रामक राष्ट्रवाद, अंधराष्ट्रवाद और सही मायने में फासीवादी राष्ट्रवाद ही हो सकता है। यहाँ

फासीवादी राष्ट्रवाद की अवधारणा पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। मुसोलिनी ने फासीवाद के पाँच सिद्धान्त गिनवाये थे— पहला, राजसत्ता के हितों को व्यक्तियों के अधिकार से ऊपर रखना; दूसरा, राष्ट्र के ऊपर राजसत्ता की वरीयता; तीसरा, लोकतंत्र का परित्याग; चौथा, राजसत्ता का धर्मनिरपेक्ष न होकर किसी एक खास धर्म को सम्मान और संरक्षण देना तथा पाँचवा, राजसत्ता को पूरे राष्ट्र की अन्तस्वेतना मानना। इन बातों का निचोड़ यही है कि जो राजसत्ता यानी सरकार के खिलाफ है, वह राष्ट्र के खिलाफ है यानी राष्ट्रद्रोही है और उसके खिलाफ अभियोग लगाना जरूरी है। जाहिर है कि राष्ट्रवाद का यह पाठ संविधान की प्रस्तावना में वर्णित “हम भारत के लोग...” अर्थात् देश के करोड़ों लोगों को मूलभूत अधिकारों से वंचित कर देश की सम्प्रभुता को केवल सरकार और उसके अंध समर्थकों तक सीमित कर देता है। न्यायपालिका, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक और रिजर्व बैंक जैसी संवैधानिक संस्थाएँ जो संसद के प्रति जवाबदेह नहीं हैं, उनको नियंत्रित करने के प्रयास और उनके खिलाफ बौखलाहट भरे बयानों को भी इसी रोशनी में समझा जा सकता है।

डॉक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था कि राष्ट्रीयता एक जहर है। रवीन्द्र नाथ टैगोर का कहना था कि “मैं हीरे की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूँगा, जब तक मैं जीवित हूँ, देशभक्ति को मानवता के ऊपर जीत हासिल करने की इजाजत नहीं दूँगा। शान्ति निकेतन देशभक्तों के लिए नहीं, शान्तचित्त विश्व नागरिकों के लिए है।” टैगोर ने यह विचार राष्ट्रवाद के उत्थान के दौर में व्यक्त किया था। आज जब भारत का शासक वर्ग साम्राज्यवाद के आगे निर्लज्ज आत्मसमर्पण कर रहा है और इस कुकृत्य को छद्म राष्ट्रवाद के आवरण में छुपा रहा है, तब उनका यह कथन और भी महत्व ग्रहण कर लेता है। पूँजीवादी राष्ट्रवाद की अवधारणा के बरकश आधुनिक युग के सबसे प्रगतिशील वर्ग— मेहनतकश ने अन्तरराष्ट्रीयतावाद, यानी विश्व बंधुत्व की अवधारणा को स्थापित किया। इसकी सघन अभिव्यक्ति “दुनिया के मजदूरों, एक हो जाओ” के नारे में हुई। यह एक अलग अध्ययन का विषय है कि संकीर्ण स्वार्थों से प्रेरित राष्ट्रवाद के नाम पर दुनिया भर में जितने खून खराबे और कल्लोगारत हुए उनके समनान्तर मेहनतकशों के विश्व बंधुत्व की धारा ने आपसी सहयोग और भाईचारा के इतने कीर्तिमान स्थापित किये। जाहिर है कि राष्ट्रवाद आज अपनी सारी नकारात्मकताओं के साथ मुट्ठी भर परजीवियों और शोषक वर्गों की विचारधारा के रूप में ही कायम है। अपनी हिफाजत के लिए वह काले कानूनों और दमन-उत्पीड़न का सहारा लेने से भी बाज नहीं आता। दूसरी ओर आज दुनिया भर में न्याय, समानता और स्वतंत्रता का सपना देखने वाले करोड़ों लोगों की विचारधारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद यानी विश्व बंधुत्व ही है। यह ऐतिहासिक रूप से सही, विज्ञान सम्मत और तार्किक विचारधारा है। यही इतिहास को आगे गति देगा। यही भविष्य की दिशा है। ○

## पाठकों से अपील

- ‘देश-विदेश’ अंक 23 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।
- जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।
- देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 23 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।
- पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्न लिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएस या ई मेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता  
**S.B. AèC : 601510100024041**  
**IFSC : BKID 0006015**  
**बैंक ऑफ इण्डिया,**  
**जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32**  
**मनी ऑर्डर भेजने का पता है—**  
**अतुल कुमार गुप्ता**  
**1/4649/45 बी, गली न। 4,**  
**न्यू मॉर्डन शाहदरा**  
**दिल्ली- 110032**

# धर्म-आधारित उद्धृत राष्ट्रवाद की वापसी

-रोमिला थापर

1960 के दशक में हम आश्वस्त थे कि राष्ट्रवाद, यानी धर्म-निरपेक्ष, सर्व-समावेशी और हमें आजादी दिलाने वाले उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की वजह से राजनीतिक गोलबंदी में धर्म के इस्तेमाल में कमी आयेगी और बँटवारे के बावजूद यह धारणा दृढ़तापूर्वक बनी रहेगी। यह एक ऐसा दृढ़ विश्वास था कि शुरुआती चरण में संविधान में धर्म-निरपेक्षता के समावेश का उल्लेख करने को आवश्यक नहीं समझा गया। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। राजनीतिक गोलबंदी के मकसद से धर्म की और राष्ट्रवाद के मूलतत्त्व के रूप में धर्म-आधारित पहचान की पूरे जोर-शोर से वापसी हो गयी है, जिसे अक्सर साम्प्रदायिकता कहा जाता है।

इतिहासकार और दूसरे समाज वैज्ञानिक भविष्यवाणियाँ नहीं करते। ऐसा करने में हमारी असमर्थता इसलिए है कि हमारे समाज में हमेशा ऐसे तर्कहीन कारक होते हैं, जो दखल देते हैं। इसलिए हम सिर्फ इस बात का विश्लेषण कर सकते हैं कि क्या गलत हुआ और इस बारे में कुछ सुझाव दे सकते हैं कि इसे दुरुस्त कैसे किया जाये।

उत्तर-औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिकता की बदलती रूपरेखा पर विचार करना उपयोगी है क्योंकि मानक और ऐतिहासिक संदर्भ अब वैसे नहीं रहे जैसे कि वे औपनिवेशिक समय में थे। पहली बात तो यह कि उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद जो अपेक्षतया धर्मनिरपेक्ष था और जो मुस्लिम और हिंदू दोनों ही साम्प्रदायिकता से अलहदा था, आज वह गुजरे जमाने की चीज हो गया है।

साम्प्रदायिकता का जन्म औपनिवेशिक नीति के चलते हुआ था और इसने दो राष्ट्रों के संदिग्ध सिद्धान्त को अपनी आधारशिला बनाया था, जिसका नतीजा दो तरह की साम्प्रदायिकता, यानी मुस्लिम-हिंदू साम्प्रदायिकता के रूप में सामने आया। पहली साम्प्रदायिकता के कारण पाकिस्तान का जन्म हुआ। हिंदू साम्प्रदायिकता आज अपनी मनोकामना पूर्ण करने के लिए प्रतीक्षारत है।

साम्प्रदायिकता उत्तर-औपनिवेशिक भारत की राजनीति में अपनी भूमिका निभाती रही है, लेकिन यह उसकी पहले वाली भूमिका के अनुरूप नहीं रही है। स्वाधीनता के बाद उपनिवेशवाद-विरोधी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद को खुले आम नकारने का तर्क यह है कि अब हम उपनिवेश नहीं हैं और हमें उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद की जरूरत नहीं रह गयी है। लेकिन हमें अब भी इस प्रकार के संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध करना होगा जो 1939 के दशक जैसे हिंदू राष्ट्र का आकांक्षी है।

मजे की बात यह है कि राष्ट्र की इस किस्म का निर्धारण भारतीय समाज की औपनिवेशिक व्याख्या के साथ नथी है। इसका सम्बन्ध अतीत की जेम्स मिल के द्वारा की गयी भारतीय इतिहास की 19वीं सदी की व्याख्या से है, जो ऐसे दो राष्ट्रों की बात करते हैं जिन्होंने हमेशा भारत का निर्माण किया है— यानी हिंदू और मुसलमान राष्ट्र।

दो राष्ट्र के सिद्धान्त ने एक अन्य औपनिवेशिक योगदान— जनगणना— की सहायता से साम्प्रदायिकता को हवा दी,

जिसके जरिये यह बताया गया कि भारतीय समाज बहुसंख्यक समुदाय और अल्पसंख्यक समुदाय से मिलकर बना है। वेदों का आर्यवाद भारतीय सभ्यता के मूल में होने का औपनिवेशिक सिद्धान्त भी इसमें जोड़ दिया गया। राष्ट्र की अवधारणा में हिंदू राष्ट्र के रूप में इसने योगदान दिया और इस तरह हिंदू ही भारत के मुख्य नागरिक हो गये।

इसलिए, उपनिवेशवाद-विरोधी प्रमुख राष्ट्रवाद ने आजादी के लिए आन्दोलन, इतिहास और भारतीय समाज के औपनिवेशिक बोधों को जन्म दिया, मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा की शक्ति में दो साम्प्रदायिक राष्ट्रवादों को खाद-पानी दिया। हिंदू महासभा की जगह आगे चलकर आरएसएस ने ले ली। मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा ने धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं किया और इसके बजाय एक-दूसरे का विरोध करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

आजादी के बाद धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद का टकराव औपनिवेशिक सत्ता से नहीं रह गया था, बल्कि इसके बजाय इसे पहचान की राजनीति से टक्कर लेनी थी जो धार्मिक कट्टरपंथ की राह पर चल पड़ी थी। धार्मिक कट्टरपंथ की गतिविधियों को रोकने के लिए जागरूकता की जरूरत को कम करके आंका गया। इस्लामीकरण और हिन्दुत्व दोनों ने ही इस्लाम और हिंदू पहचानों की मुखालफत के जरिये खुद को मजबूत करने का रास्ता अपनाया।

भारतीय सरकारें बड़े या छोटे पैमाने पर इस तरह की राजनीति के पक्ष में रही

हैं। हमने विभिन्न अल्पसंख्यक समुदायों, मसलन मुस्लिम, सिख, ईसाई, दलितों के विरुद्ध चरम हिंसा को होते हुए देखा है। यह भारत में लोकतंत्र के लिए पहले भी एक गम्भीर खतरा थी और आज भी बनी हुई है।

एक ऐसे समाज में कार्यशील लोकतंत्र की स्थापना करना मुश्किल है, जहाँ पर विशेषाधिकार प्राप्त और वंचित समूहों की विशेष श्रेणियाँ, घटते-बढ़ते अधिकारों के साथ धार्मिक पहचानों पर आधारित बहुसंख्यक एवं अल्पसंख्यक समुदाय और ऐसी विचारधारा मौजूद है जो दो राष्ट्र के सिद्धान्त का समर्थन करती है, जहाँ पर धर्म, जाति और भाषा पहचान बन जाती हैं। यह मुश्किल इसलिए है कि लोकतंत्र के लिए इससे उलट चीज की जरूरत होती है - इसका अर्थ है सभी के लिए समान अधिकार और सभी नागरिकों पर सामान रूप से लागू होनेवाला कानून।

हमारी ढेर सारी समस्याएँ औपनिवेशिक नीति, प्रशासन और कानून के कारण उत्पन्न हुई हैं, जिन्हें हमने बिना सवाल उठाये विरासत के रूप में अपना लिया। हमने धर्म और जाति से निकली अपनी पहचानों को उसी आधार पर जारी रखा, जिसे औपनिवेशिक प्रणाली ने हमारे ऊपर थोपा था। अगर हमने इन पर प्रश्न उठाया होता तो हो सकता था कि कोई अन्य चीज भली-भाँति उभर कर सामने आती।

मुझे हमेशा आश्चर्य होता है कि क्या सभी उत्तर-औपनिवेशिक समाज उस चीज से चिपके रहकर उसकी निरन्तरता और रूढ़िवादिता का पोषण करते हैं, जिसे उनके उपनिवेशवादियों ने सिखाया था कि वे कौन और क्या थे और अब क्या हैं?

उदाहरण के लिए अफ्रीकी और कैरिबियन राष्ट्रवाद के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना दिलचस्प रहेगा, जो नेगरिट्यूड की तरह के सिद्धान्तों के उभार का गवाह बने और जहाँ लोगों ने अपने राष्ट्रवाद का निर्माण करते समय ऐमी सेसेर और लिओपोल्ड सेंगोर को पढ़ा।

(नेगरिट्यूड-- ऐसी विचारधारात्मक अवस्थिति जो अपनी खुद की शर्तों पर अश्वेत लोगों की संस्कृति को स्वतंत्र और वैध ठहराती है; अफ्रीकी सांस्कृतिक विरासत का दृढ़ कथन)। इसके अलावा क्या वे अपने अतीत के औपनिवेशिक संस्करणों की ओर वापस गये अथवा क्या उन्होंने इन संस्करणों पर प्रश्न उठाया?

क्या धार्मिक एवं सांस्कृतिक अतिवाद की विचारधाराएँ निरपवाद रूप से पहले के उपनिवेशिक समाज और संस्कृति की व्याख्याओं से उत्पन्न हुई हैं, जैसा कि उपनिवेशवादियों द्वारा निर्मित किया गया? दूसरे शब्दों में, क्या हमें उन पहचानों को समर्थन देना होगा, जिन्हें ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने हमारे ऊपर थोपा था? क्या हम इसके बजाय इन पहचानों पर सवाल नहीं उठा सकते और विकल्पों पर विचार नहीं कर सकते। इस तरह की पहचानों की निरन्तरता अन्तर्निहित रूप से लोकतंत्र विरोधी है। उनका मकसद उपनिवेश कायम करना था, न कि स्वतंत्र लोकतंत्र।

कुछ समय से यह बहस चल पड़ी है। इन आधार-वाक्यों को बदलने की जरूरत है।

किसने किस पर अत्याचार किया केवल इस लिहाज से अतीत की बात करने के बजाय (और जैसा कि हम सभी जानते हैं कि अत्याचार के ऐसे सिद्धान्त आसानी से गढ़ लिये जाते हैं) इसकी जगह हमें उस बात पर अधिक सावधानी के साथ नजर डालनी चाहिए, जो हम वर्तमान में हासिल करना चाहते हैं और अतीत की कौन सी चीज ज्यादा सकारात्मक वर्तमान का निर्माण करने में हमारी मदद कर सकती है।

हमें इस बात को मानकर चलना होगा कि लम्बे अतीत वाले हर दूसरे समाज की तरह, हमारा समाज भी ऐसा नहीं है, जिसकी विशेषता सहिष्णुता और अहिंसा हो। फिर भी, हम चाहे जितना कहें कि हम सहिष्णु और अहिंसक हैं, यह पूरी तरह सच नहीं है।

इस तरह के सिद्धान्तों ने उन दिनों अपनी भूमिका अदा की थी, जब हम उपनिवेशवाद से संघर्ष कर रहे थे। लेकिन असहिष्णुता और हिंसा की रोजमर्रा की कार्रवाइयों को देखते हुए अब उन सिद्धान्तों से कोई खास मदद नहीं मिलने वाली, क्योंकि हम इन्हें रोज-ब-रोज देखते और महसूस करते हैं और ऐसी घटनाएँ लगातार बढ़ती जा रही हैं। लेकिन, हम एकाएक हिंसक और असहिष्णु नहीं हो गये हैं। अतीत में भी हमारे अन्दर इस तरह के व्यवहार के कुछ तत्व रहे हैं, जिन्हें शायद हमने अच्छी तरह से नियंत्रित करके रखा था। यह हितकर होगा कि हम इस बात की पड़ताल करें कि क्यों अतीत में हिंसा और असहिष्णुता कम थी, अगर ऐसा था तो?

इस्लाम के उदय से पहले लिखित हमारे ग्रंथ बताते हैं कि धर्म की दो प्रमुख धाराएँ थी, यानी ब्राह्मणवादी व श्रमणवादी। दूसरी वाली धारा में जैन, बौद्ध, आजिविका और अन्य धर्म थे। उस समय ऐसे शासक थे जिन्होंने पंथों के बीच अहिंसा का आह्वान किया, जैसा कि अशोक मौर्य के शिलालेखों में बताया गया है, अथवा संस्कृत की पुस्तकों में या उस काल में भारत आने वाले सैलानियों के विवरणों में पंथों के बीच संघर्ष का विवरण मिलता है।

ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास महान व्याकरणाचार्य पतंजलि दो प्रमुख धर्मों के बारे में बताते हैं और आगे कहते हैं कि उनके रिश्ते की तुलना साँप और नेवले से की जा सकती है। बौद्ध धर्म का अन्ततः भारत से निष्कासन ही हो गया। पंथीय संघर्ष इस्लामिक समय में जारी रहा, अब इसमें एक और कारक जुड़ गया था।

जहाँ तक असहिष्णुता की बात है, हमें यह बात भी ध्यान रखनी होगी कि जिन्हें आज हम दलित कहते हैं उनके साथ भारत के हरेक धर्म ने भेदभाव किया। यहाँ तक कि खुदा की नजरों में सभी लोगों की बराबरी का दावा करने वाले धर्मों ने भी उन्हें बराबरी का दर्जा नहीं दिया।

इस्लाम और ईसाई जगत में भारत के बाहर दलित जैसी कोई श्रेणी नहीं है, लेकिन भारत में मुस्लिम, ईसाई और सिख धर्मों के अनुयायी दलित बहिष्कृत थे और अलग-थलग रहते थे। ये हमारे समाज के वे पहलू हैं जिनसे हमें अभी भी पार पाना है। समाज के कुछ तबकों के साथ किये जानेवाले उस बर्ताव की अनदेखी करके, जिसे अब बदलने का प्रयास कर रहे हैं, हम यह दावा नहीं कर सकते कि अतीत में हम सहिष्णु समाज थे। असहिष्णुता का अर्थ सिर्फ धर्म से ही ताल्लुक नहीं रखता। इसका अर्थ किसी दूसरे मनुष्य को अपमानित करना भी होता है।

अगर हम लोकतंत्र चाहते हैं तो उसे अनिवार्य रूप से धर्मनिरपेक्ष होना पड़ेगा और विशेषाधिकार प्राप्त समूहों को विशेष अधिकार नहीं देना होगा। इस बात का कोई अर्थ नहीं कि इस प्रकार के अधिकार की दायेदारी को सामाजिक हैसियत या जनसंख्या के आधार पर उचित ठहराया जाता हो। तात्पर्य यह कि समाज की संस्थाओं को इस तरह से संगठित करना है कि किसी समूह को विशेष अधिकार प्रदान करना अनावश्यक हो जाए।

इसका अर्थ उन संस्थाओं के कामकाज पर निरन्तर नजर रखना है, जो यह सुनिश्चित करने के लिए लोकतंत्र को बनाये रखती हैं कि वे ऐसा कर रही हैं। इसका अर्थ सजग होना भी होता है, उदाहरण के लिए शैक्षणिक संस्थान, जहाँ पर हम धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के बारे में पढ़ते हैं, और लोकतांत्रिक समाज से सम्बन्ध रखकर समाजीकृत होते हैं, ध्वस्त नहीं होते हैं या इसके स्थान पर ऐसी पढ़ाई नहीं होती, जो अलोकतांत्रिक है। यह गम्भीर खतरा है।

इसका अर्थ संस्थानों एवं लोगों की सोच बदलना भी है, जिससे कि उन्हें लोकतांत्रिक समाज को समझने और उसे समर्थन प्रदान करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

वे प्रमुख संस्थान कौन से हैं जो इसके साथ जुड़ेंगे?

संविधान धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के मूल्यों पर आधारित है लेकिन हम में से अधिकतर लोग इसके बारे में बहुत अधिक नहीं जानते। सम्भवतः हमें इसके बारे में अधिक जागरूक होना चाहिए कि किस प्रकार से यह लोकतंत्र की हिफाजत करता है। इससे न्यायपालिका के कामकाज के बारे में अधिक ज्ञान का होना भी जुड़ा हुआ है, जो वर्तमान समय के बहुत से संकटों के लिए निर्णायक महत्त्व का है।

दलितों, आदिवासियों और औरतों के विरुद्ध जारी भेदभाव को दूर करने के लिए नागरिक कानूनों की संहिता का काम में लाना होगा। हमें यह पता लगाने के लिए समय-समय पर जाँच भी करते रहना होगा कि सकारात्मक कार्रवाई की जा रही है या नहीं, और इससे किसको लाभ मिल रहा है। यह कुतूहल पैदा करता जान पड़ता है - और अब यह प्रश्न आमतौर से पूछा जा रहा है कि राष्ट्र के तमाम हिस्सों में दबंग जातियाँ इस माँग के लिए हिंसा पर क्यों उतारू हैं कि उनको भी आरक्षण का अधिकार मिले, जबकि ये अधिकार उन लोगों के लिए थे जो वंचित तबके से आते थे।

अगर सभी के लिए स्तरीय शिक्षा की व्यवस्था कर दी जाये तो बड़ा सकारात्मक परिवर्तन लाया जा सकता है। उद्देश्य महज पढ़ाई कराना नहीं होना चाहिए बल्कि बच्चों को यह सिखाना भी होना चाहिए कि किस प्रकार से सोचा जाय, अपने आसपास की दुनिया को लेकर जिरह कैसे की जाय और उसे सुधारा कैसे जाय। उद्देश्य यह होना चाहिए कि ज्ञान का प्रबन्ध कैसे किया जाय और यह अहमियत क्यों रखता है। शिक्षा महज जानकारी हासिल करना नहीं है। हमें यह याद रखना है कि आगामी पीढ़ी में आधी आबादी वास्तव में महत्वाकांक्षी किशोरों की होगी।

हमें मूलभूत मानवाधिकारों की गारन्टी करनी होगी, ताकि पचास करोड़ भारतीय गरिमामय जीवन जी सकें। हमें इस बारे में सोचना होगा कि हम किस तरह अपने प्रशासकों के ऊपर दबाव बनायें, उन लोगों

के ऊपर जो हमारे संस्थानों को चलाते हैं और उन लोगों पर भी जिनके ऊपर हमारी रक्षा की जिम्मेदारी है, यह बतायें कि उनकी प्रमुख जिम्मेदारी देश के नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना है। उनसे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे सत्ता के आगे गुलामों जैसा व्यवहार करें। उन्हें नागरिकों की सहायता करने के लिए प्रोत्साहित करना होगा।

हो सकता है कि अगर हम ऐसी माँग उठायें और दृढ़तापूर्वक उठायें तो साम्प्रदायिक सोच से पैदा होने वाले अपमानजनक व्यवहार जो हमारे समाज में इतने प्रचलित हैं, उनमें कमी आये।

साम्प्रदायिकता कुल मिलाकर इस सोच पर आधारित स्वभाव है कि उनके आकाओं ने जो कुछ भी बताया है, उससे ज्यादा जानने की कोई जरूरत नहीं। यह अच्छी बातें जानने में अरुचि को दर्शाता है। इसलिए, केवल अपने धर्म के लोगों के हित पर ध्यान देना - चाहे वह बहुसंख्यक हो या अल्पसंख्यक आखिरकार इसका उद्देश्य बहुत ही सीमित होता है। यह साम्प्रदायिकता को कभी खत्म नहीं करेगा।

मुझे लगता है कि हमें ऐसे दूसरे तरीकों के बारे में सोचना होगा, जिनके द्वारा अस्मिताएँ परिभाषित की गयी हैं। ऐसा लगता है कि हम उस मोड़ पर आ गये हैं जहाँ साम्प्रदायिक विचारों और गतिविधियों को न्यायसंगत राष्ट्रवाद माना जा रहा है। हमें राष्ट्रवाद को साम्प्रदायिकता से अलग करना होगा। किसी भी समूह को यह दावा करने का एकाधिकार नहीं है कि केवल उसकी कार्यवाहियों से ही राष्ट्रवाद का निर्माण होता है और दूसरे सभी लोग राष्ट्र-विरोधी हैं। हमें समावेशी, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद को पुनःनिर्मित करना है, जिससे प्रत्येक भारतीय को बराबर मात्रा में और समान अधिकारों के साथ भागीदारी करने का अवसर हासिल हो।

**रोमिला थापर द्वारा लिखित, 29 मार्च 2016 सबरंगइण्डिया डॉट इन में प्रकाशित, अनुवाद : दिगम्बर।**



# हिन्दू राष्ट्रवाद के कुतर्क

-मेघनाद देसाई

**निम्नलिखित प्रस्थापनाएँ हिन्दू राष्ट्रवादी सिद्धान्त के केन्द्र में हैं-**

● भारत प्रागैतिहासिक काल से ही भारतवर्ष या आर्यावर्त के रूप में एक एकल राष्ट्र रहा है।

● जब मुस्लिम आक्रमणकारी आठवीं शताब्दी के बाद उत्तर-पश्चिम से आये, तभी से भारत गुलाम हो गया-- पहले मोहम्मद बिन कासिम और मोहम्मद गजनी तथा बाद में दिल्ली सल्तनत और फिर मुगल साम्राज्य। मुस्लिम विदेशी हैं। विदेशी के प्रति इस घृणा के जरिये यह बात स्वयंसिद्ध और स्थापित कर दी जाती है कि आर्य भारत में कहीं और से नहीं आये थे। सिन्धु घाटी सभ्यता और आर्यों के आक्रमण की कहानी के बीच सामंजस्य बिठाने को लेकर इनमें एक बड़ी उलझन है। हिन्दू राष्ट्रवादी इस बात से साफ-साफ इनकार करते हैं कि आर्य विदेशी थे।

● अंग्रेजों ने एक एकल भारतीय पहचान निर्मित नहीं की। यह तो हमेशा से ही मौजूद थी। मैकाले ने जो शिक्षा प्रणाली लागू की, उसने अभिजात्यों को पैदा किया मैकाले-पुत्र, जो विदेशियों की तरह बर्ताव करते हैं और सोचते हैं।

● 1947 में 1200 साल की गुलामी का अन्त हुआ। (नरेन्द्र मोदी ने अपने निर्वाचन के बाद संसद की केन्द्रीय सौध में अपने पहले भाषण के दौरान यह बात कही) भारत अन्ततः एक हिन्दू राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान का दावा करने के लिए स्वतन्त्र हुआ।

● हालाँकि काँग्रेसी धर्मनिरपेक्ष, मुसलामानों को विशेषाधिकार देते रहे, जिनकी देशभक्ति पर हमेशा सन्देह किया जाना

चाहिए, क्योंकि उनका देश पाकिस्तान है।

फर्जी इतिहास की बकवास ये प्रस्थापनाएँ नाना प्रकार के अवधारणात्मक और ऐतिहासिक मुद्दे उठाती हैं। आइये उनकी जाँच-पड़ताल करें। पहला, मूल निवासी बनाम विदेशी का मुद्दा है। अंग्रेज स्पष्ट रूप से विदेशी थे। वे जब यहाँ आये तब उनको यहाँ कुछ करने का अवसर था और उन्होंने यहाँ उस तरह का “उपनिवेशीकरण” नहीं किया जिस तरह रोडेशिया या आस्ट्रेलिया में। दूसरी ओर मुसलमान शासक वापस नहीं गये और उन्होंने भारत को अपना घर बना लिया। यह हिन्दू राष्ट्रवादियों के लिए एक समस्या पैदा करता है। यह सच्चाई है कि मुसलमान 1200 साल से यहीं के निवासी हैं, फिर भी इनकी निगाह में वे भारत के निवासी नहीं हैं। वे हमेशा-हमेशा के लिए विजातीय ही रहेंगे। यह अजीबोगरीब सिद्धांत है, क्योंकि भारत अपने पूरे इतिहास के दौरान “विदेशी” कबीलों का शरणस्थल रहा है शक, हूण, काला सागर के पार से आनेवाले बंजारे और दूसरी “नस्लें” जो सबकी सब हिन्दू धर्म में परिवर्तित होती गयी। लेकिन फिर भी 1200 साल काफी नहीं हैं। तो फिर आर्यों के बारे में क्या कहेंगे? क्या आर्य भी मध्य यूरोप या उत्तरी ध्रुव के करीब से नहीं आये थे, जैसा कि बाल गंगाधर तिलक ने तर्क द्वारा स्थापित किया है?

यह कहना कि आर्य विदेशी हैं, हिन्दुत्व को विदेशी धर्म बना देता है। फिर तो आदिवासी- जनजातियाँ ही एकमात्र असली मूलनिवासी होंगे, जैसाकि कुछ दलित विद्वानों ने तर्क दिया है। यही कारण है कि हिन्दू राष्ट्रवादी आर्यों का विदेशी मूल का होना

स्वीकार नहीं करते हैं, हिन्दू राष्ट्रवादी आख्यान के साथ मेल बैठने के लिए आर्यों को मौलिक रूप से यहाँ का मूलनिवासी बताना जरूरी है, जो एक ऐसे काल की कल्पना करते हैं जब किसी न किसी रूप में पूरे भारत में तत्क्षण हिन्दू धर्म स्थापित हुआ था, जिसके पीछे वेद और ब्राह्मणों के बलिदान इत्यादि की भूमिका थी। इसी कारण से हिन्दू भारत की सामान्य भाषा के रूप में संस्कृत का होना भी जरूरी होगा।

यह फर्जी इतिहास की बकवास है। हिन्दू जिस धर्म को व्यवहार में लाते हैं उसका वेदों से बहुत कम ही सम्बन्ध है। वैदिक देवों की अब पूजा नहीं होती। विष्णु, शिव और काली का हिन्दू मंदिरों में प्रादुर्भाव वेदों के कम से कम 1000 साल बाद ही हुआ। ब्राह्मणवाद (जो हिन्दू धर्म का सही नाम है) का धीमी गति से प्रसार जो इसके केन्द्रीय स्थल पंजाब से दिल्ली क्षेत्र की ओर तथा बाद में उत्तर प्रदेश और बिहार की ओर हुआ, इसका अच्छी तरह मानचित्र निरूपण किया गया है। यह भी अच्छी तरह ज्ञात है कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से आजीविका, जैन धर्म और बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में पाली और अर्धमागधी की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

बौध धर्म और ब्राह्मणवाद के बीच एक हजार सालों तक संघर्ष चला जिसके बाद ही ब्राह्मणवाद को विजयी घोषित किया जा सका। भारत लगभग उसी समय एक हिन्दू राष्ट्र बना जब शंकराचार्य ने बौद्धों से बहस की और उनको पराजित किया। हालाँकि अगर हिन्दू राष्ट्रवादियों के कालक्रम को गम्भीरता से लें, तो यह मुसलामानों का “गुलाम” बनने के ठीक



बाद का समय रहा होगा।

हिन्दू राष्ट्रवादियों की रणनीति बौद्ध धर्म और ब्राह्मणवाद के बीच के किसी भी टकराव को नकारने और यह दावा करने की है कि बुद्ध विष्णु के अवतार थे। यह दावा सातवीं शताब्दी तक पुराणों में नहीं मिलता, जिस समय तक बौद्ध धर्म बाहर का रास्ता पकड़ रहा था। भारत को इतिहास के पूरे दौर में एक हिन्दू राष्ट्र के रूप में परिभाषित करने के लिए हिन्दुत्व ही पर्याप्त नहीं है।

सावरकर ने हिन्दुत्व पर लिखे अपने लेख में इस वृत्त को चौकोर बनाने की कोशिश की थी। वे एक आधुनिकतावादी थे, न कि किसी धर्म के अनुयायी। राष्ट्र के बारे में उनके विचार उस दौरान राष्ट्रीयता के बारे में प्रचलित उन फैशनेबल विचारों से निकले थे जो यूरोप के नये पैदा हुए राष्ट्रों द्वारा ग्रहण किये गये थे, उनमें से कई पहले हैब्सबर्ग साम्राज्य के अंग रहे थे जो 1918 में विघटित हो गया था, जैसे- हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया। राष्ट्रीयता भूभाग पर आधारित होती थी और किसी विशेष भूभाग में पैदा हुए लोग उस राष्ट्र के सदस्य होते थे।

उनका हिन्दुत्व हिन्दू धर्म से बंधा नहीं था। मतलब यह कि कोई भी व्यक्ति जो सिन्धु की धरती पर जन्मा हो वह हिन्दू है और हिन्दुत्व का अंग है। इसका एक गौण पाठ है कि हिन्दू, मुसलमानों से कहीं अधिक हिन्दुत्व का अंग हैं। लेकिन

मुसलमान हिन्दुत्व के अंग हो सकते हैं यदि अपनी जन्मभूमि के प्रति वफादार हों। बाद वाले हिन्दू राष्ट्रवादियों ने सावरकर के हिन्दुत्व की धारणा को तो अपना लिया, लेकिन उनके धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्त को नहीं अपनाया।

## गुलामी के बारे में भ्रामक विचार

भारत के एक इतिहास के रूप में, हिंदू राष्ट्रवादी कहानी उतनी ही आंशिक और एकांगी है जितनी नेहरूवादी दृष्टिकोण ने पैदा की है। निश्चय ही, ये दोनों उत्तर भारतीय पक्षपात से भरी हुई कहानियाँ हैं। वे दिल्ली और उसके शासकों को ही सम्पूर्ण भारत मानते हैं। मुस्लिम हमलावर सम्भवतः आठवीं शताब्दी में सिंध और सौराष्ट्र आये और बारहवीं सदी में दिल्ली सल्तनत की स्थापना की। लेकिन वे विंध्य के दक्षिण में प्रवेश कभी नहीं कर पाये।

दक्षिण भारत में मुस्लिम अप्रवासियों के बारे में उत्तर भारत से बहुत ही अलग इतिहास है। जब औरंगजेब काफी बाद में, सत्रहवीं सदी में दक्षिण की ओर गया, उससे पहले दक्षिण भारत मुस्लिम शासन से “पीड़ित” नहीं था। दक्षिण में हिन्दू रजवाड़े एक समय मुस्लिम शासकों के साथ सहअस्तित्व में थे, लेकिन यह केवल दूसरी सहस्राब्दी के मध्य में ही सम्भव हुआ। “गुलामी के 1200 साल” का विचार पूरी तरह फर्जी है। असम किसी भी मुस्लिम

सत्ता द्वारा कभी भी जीता नहीं गया। लेकिन अन्ततः “सही मायने में वस्तुगत” इतिहास कभी नहीं लिखा जायेगा। किसी भी राष्ट्र में, कभी नहीं लिखा गया। बहस और पुनर्व्याख्याएँ हमेशा चलती रहती हैं। अकादमियों को संरक्षण देकर उनका इस्तेमाल इतिहास की सरकारी लाइन को पुख्ता करने के लिए किया जा सकता है। अगर शोध के लिए धन की आपूर्ति सरकार की तरफ से हो रही है तो निष्पक्ष अनुसंधान की पवित्रता की गारंटी नहीं की जा सकती। हालाँकि भारत में, अनुसंधान के लिए निजी परोपकारी स्रोतों से धन मुहैया कराने की परम्परा नहीं रही है। सरकार ने उच्च शिक्षा के सभी दरवाजों पर सरकार की पहरेदारी है, जिसके लिए काँग्रेस का जड़ीभूत पूर्वाग्रह जिम्मेदार है जो आजादी के बाद के शुरुआती तीस सालों तक बेरोकटोक शासन करती रही। यह पूर्वाग्रह रिस-रिसकर अच्छी तरह से भाजपा में घुस चुका है। चिन्ता की बात महज हिंदू राष्ट्रवाद का विचार ही नहीं है। चिन्तित करनेवाली बात यह है कि खुद भाजपा सरकार इस खास नजरिये की प्रचारक होगी।

**(मेघनाद देसाई लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में अर्थशास्त्र के मानद प्रोफेसर हैं और मशहूर पुस्तक द रीडिस्कवरी ऑफ इण्डिया एण्ड डेवलपमेंट एण्ड नेशनहुड के लेखक हैं। आभार स्क्रोल डॉट इन। अनुवाद-दिगम्बर)**



मैं उपकार में यकीन नहीं करता। मुझे एकता में यकीन है। उपकार सिर पर खड़ा होता है, इसलिए यह अपमानजनक है। यह ऊपर से नीचे आता है। एकता बराबरी के स्तर पर होती है। यह दूसरों का सम्मान करती है और दूसरों से सीखती है। मैंने दूसरे लोगों से बहुत कुछ सीखा है। हर दिन मैं सीख रहा हूँ। मैं एक जिज्ञासु इनसान हूँ, हमेशा दूसरे लोगों को पढ़ता रहता हूँ, उनकी आवाजें, उनके रहस्य, उनकी कहानियाँ, उनके रंग। मैं उनके शब्द चुराता हूँ, शायद मुझे गिरफ्तार किया जाना चाहिए।

--एदुवार्दो गालेआनो

# धर्म, व्यापार और राजनीति का गठजोड़

-महेश त्यागी

**प्राचीन काल से** ही हमारे देश में ऋषि-मुनियों का बोलबाला रहा है। आज विज्ञान के युग में भी बाबाओं के कारनामे देखकर लगता है कि जनता की समस्याओं का समाधान सरकार के पास नहीं, बल्कि बाबाओं के प्रवचनों और उनके द्वारा बेचे जा रहे ताबीजों और लाकेटों में है। एक बाबा कोई खास चीज खाने-पहनने और किन्हीं देवी-देवताओं के दर्शन करने के नाम पर कृपा बरसा रहे हैं। दूसरे 'यस, यू कैन चेंज' की थ्योरी लागू करके चन्द दिनों में ही लोगों की जिन्दगी बदल दे रहे हैं। आजकल टीवी पर बाबाओं की बाढ़ सी आ गयी है। पिछले दिनों करोड़ों भक्तों का कल्याण करके अरबों रुपया कमाने वाले आशाराम और रामपाल जैसे पहुँचे हुए बाबाओं को जेल पहुँचा दिया गया। इसके बावजूद धर्म गुरुओं का आकर्षण कम नहीं हुआ है।

हाल ही में 'आर्ट ऑफ लिविंग' के संस्थापक धर्मगुरु श्री श्री रविशंकर ने दिल्ली में यमुना किनारे विश्व संस्कृति महोत्सव के नाम से एक तीन दिवसीय कार्यक्रम किया जो पर्यावरण प्रदूषण, सरकारी तंत्र की उसमें सक्रिय भागीदारी जैसे कई विवादों के चलते काफी चर्चित हुआ। पहला सवाल यमुना का प्रदूषण बढ़ाने के चलते उठा। कार्यक्रम के आयोजन स्थल, यमुना के डूब क्षेत्र, को समतल करने के लिए चलाये जा रहे बुलडोजरों ने सारा मलबा यमुना में डाल दिया, जिसका वीडियो भी सामने आया। इसके जबाब में श्री श्री ने बताया कि मलबा डाला नहीं गया बल्कि हटाया गया है। *द वायर* की रिपोर्ट के मुताबिक यमुना खादर में किसानों की लगभग सौ एकड़ फसल नष्ट कर दी गयी। जिससे 200 परिवार भूखे मरने को अभिशप्त हो गये।

कार्यक्रम स्थल के दायरे में आने वाले पेड़ों को काट दिया गया। मौके पर पहुँचे श्री श्री को किसानों ने बताया कि अपनी जीविका से ज्यादा हम लोग यमुना की चौकिदारी करते हैं। आपका आर्ट ऑफ लिविंग खेती और यमुना दोनों को बर्बाद कर देगा। आर्ट गुरु ने आश्वासन दिया कि उनकी फसलों का मुआवजा दिया जायेगा। इस पर लोगों ने शंका जतायी कि कॉमनवेल्थ खेलों के दौरान यमुना किनारे की साठ एकड़ जमीन अस्थाई बस डिपो के नाम पर ली गयी थी लेकिन छः साल बाद भी वहाँ से बस डिपो को हटाया नहीं गया। हो सकता है कि वहाँ वृक्षारोपण के नाम पर हमारी ये जमीनें भी इस महोत्सव की भेंट चढ़ जायें। 67 एकड़ में फैले विशाल मंच पर दुनिया भर से आये कलाकारों के साथ-साथ, पैंतीस लाख देशी-विदेशी दर्शकों की भागीदारी, तीन दिनों तक इनके अवशिष्ट पदार्थों के विसर्जन से फैले प्रदूषण की कल्पना की जा सकती है। इस पर उन्होंने बयान दिया कि हम सुनिश्चित करेंगे कि यमुना प्रदूषित न हो।

एक निजी संस्था के इस आयोजन के लिए लोक निर्माण विभाग, गौतम बुद्ध नगर ने चार करोड़ रुपये की लागत से पुल बनाया, दूसरा पुल भारतीय सेना द्वारा बनाया गया जिसके खर्च का ब्योरा उपलब्ध नहीं है। सेना और अर्द्धसैनिक बलों के नौजवानों से दिन-रात गुलामों की तरह काम कराया गया। कार्यक्रम के लिए ढाई करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता भी दी गयी। आखिर किसी के निजी उत्सव में जनता के धन और संसाधनों को झोंकने की अनुमति सरकार को किसने दी। दिल्ली उच्च न्यायालय की खंडपीठ ने कहा कि आर्ट ऑफ लिविंग का यह आयोजन पारिस्थितिकी के नजरिये

से तबाही लाने वाला है। राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण (एनजीटी) में चली बहसों और दलीलों के बाद पर्यावरण क्षतिपूर्ति के लिए पाँच करोड़ रुपया जुर्माना भरने के बाद ही कार्यक्रम की अनुमति मिलनी थी। इस अदालती आदेश के जबाब में धर्म गुरु ने कहा कि जब हमने कोई गलती ही नहीं की तो जुर्माना चुकाने का कोई सवाल ही नहीं है। भले ही उन्हें जेल भेज दिया जाये। सीधे-सीधे अदालत की ऐसी अवमानना के बाद भी इतना कहकर सन्तोष कर लिया गया कि इनके ऐसा कहने से कानून को ठेस पहुँचती है। आश्चर्य मत कीजिये कि सत्ता और सरकार से जुड़े लोग किस तरह निरंकुश हो जाते हैं और पद प्रतिष्ठा का इस्तेमाल करके अपनी तिजोरी भरते हैं।

आर्ट ऑफ लिविंग के संस्थापक उच्च न्यायालय और एनजीटी और संसद के अन्दर कार्यक्रम के विरोध से बेहद खफा थे। उन्होंने महोत्सव कि विशेषता बताते हुए कहा कि नेताओं को राजनीति से उपर उठना चाहिए। एक ही मंच पर देश-विदेश की संस्कृति को एक साथ देखने के अवसर करोड़ों रुपया खर्च करके भी नहीं मिलते। गौरतलब है कि इतने बड़े पैमाने पर पर्यावरण विनाश, किसानों की तबाही तथा जनता के संसाधन और धन को पानी की तरह बहाने के बाद भी क्या आर्ट गुरु मुफ्त में हमें अपना महोत्सव दिखा रहे हैं?

भाजपा के एक मंत्री पर्यावरण को हुए नुकसान से साफ मुकर गये और कहा कि यहाँ तो सिर्फ संस्कृति और संस्कार की बात हो रही है। यहाँ कोई प्रदूषण नहीं है। यमुना में छोड़े गये, अवशिष्ट, मलमूत्र से भी वे मुकर गये। उनके अनुसार 30-35 लाख लोगों ने आर्ट ऑफ लिविंग सीखते समय

न तो मल का विसर्जन किया और न ही मूत्र का। इस तरह यह एक एतिहासिक महोत्सव रहा। विडम्बना है कि नाना प्रकार की सुख-सुविधाओं में लोटपोट करने वाले नेताओं को देश और समाज की समस्याओं का समाधान श्री श्री की कृपा में बरसता नजर आता है। प्रधानमंत्री मोदी ने कार्यक्रम के दौरान आर्ट ऑफ लिविंग को नयी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। उन्होंने इसे सपनों और इरादों से उसी तरह जोड़ा जैसे उन्होंने 116 पूर्व कांग्रेसियों को भाजपा से जोड़ा था, जो अब भाजपा के टिकट से चुनाव लड़कर सरकार की शोभा बढ़ा रहे हैं। आर्ट ऑफ लिविंग सीखते समय आत्महत्या करने वाले किसानों को याद नहीं किया गया, उनको खुशहाल बनाने वाले सपनों का क्या हुआ? मजदूरों की जिन्दगी बेहतर बनाने के सपने का क्या हुआ? उन मजदूरों को याद नहीं किया गया जिनके सारे अधिकार छीनकर उन्हें तिल-तिल कर मरने को मजबूर किया जा रहा है। मोदी जी के चुनाव पूर्व भाषण को याद नहीं किया गया जब उन्होंने कहा था कि हर हाथ को काम मिलेगा, सबका साथ सबका विकास होगा। बेरोजगारी के चलते हजारों की संख्या में नौजवान दर-दर ठोकें खा रहे हैं, हजारों छात्रों ने खुदखुशी की। उन्हें कोई आर्ट ऑफ लिविंग सीखाने नहीं पहुँचा। उन लुटेरी दवा कम्पनियों को श्री श्री आर्ट ऑफ लिविंग नहीं सिखाते जिनकी अमानवीय लूट के कारण असंख्य मरीज इलाज के अभाव में दम तोड़ रहे हैं। जाति और धर्म के नाम पर लोगों का कत्लेआम जारी है। कहाँ है अपने सपनों और इरादों को लेकर चलने का आर्ट ऑफ लिविंग?

श्री श्री ने कहा दुनिया को जोड़ने और जीने के पाँच माध्यम हैं। खेल, कला, विचार, व्यापार और आध्यात्म। खिलाड़ी और कलाकार अपार धन संग्रह करके और पीड़ित जनता की ओर से मुँह मोड़कर स्वर्गिक सुख भोगते हुए दुनिया को जोड़ रहे हैं। कई संगठनों और पार्टियों के विचार का प्रमुख हिस्सा मुस्लिम समुदाय के प्रति जहर उगलना, दवे-कुचले लोगों की माँग को दबाना और पूँजीपतियों की चाकरी करने की शिक्षा देना है और इन्हीं

विचारों से वे दुनिया को जोड़ने का दिवास्वप्न दिखा रहे हैं। आध्यात्मिक योग गुरु बाबा रामदेव ने विदेशों में जमा काला धन वापस लाकर देश के प्रत्येक गरीब परिवार की गरीबी दूर करने का सपना दिखाकर जबर्दस्त आन्दोलन चलाया। अब अपने धुर विरोधी चारा घोटाले के आरोपी लालू यादव के साथ गलबहियों डाले नजर आ रहे हैं। उनकी कम्पनी पतंजलि आयुर्वेद ने दुनिया को भले न जोड़ी हो लेकिन खुद बिहार से जरूर जुड़ गयी। आज पतंजलि का कारोबार पाँच हजार करोड़ से अधिक है। इसे कहते हैं असली आर्ट ऑफ लिविंग। व्यापार और बाबाओं का आध्यात्म दुनिया को कैसे जोड़ता है, इसके उदाहरण भरे पड़े हैं।

हरियाणा के डेरा सच्चा सौदा के संचालक गुरमीत राम रहीम अपने धार्मिक प्रवचनों को सुनाकर देश-दुनिया से भारी भीड़ बटोर लेते हैं। इसी का लाभ उठाकर वे तरह-तरह की उपभोक्ता वस्तुओं का कारोबार भी करते हैं। और तो और उन्होंने दो फिल्में भी बना दी और उनमें अक्षय कुमार और ऋतिक रोशन की तरह एक्शन और स्टंट करते नजर आये। चुनाव में भाजपा का समर्थन करने के एवज में उनकी फिल्म को एक बड़ा पुरस्कार भी मिला। कुछ धार्मिक लोगों का मानना है कि मैसेंजर ऑफ गॉड (एमएसजी) फिल्म के जरिये राम रहीम ने सन्तों की छवि को धूमिल कर दिया है। सन्त और सत्ता अपने धिनौने दौर में आयुर्वेदिक व्यापार से आगे अन्य कारोबार को भी विस्तार दे रहे हैं। श्री श्री अपने उत्पादों का भारी भरकम वितरण नेटवर्क भी बनाना चाहते हैं। वे अपने 600 स्टोरों को 2017 तक बढ़ाकर 2500 करने की योजना बना रहे हैं। एक रिपोर्ट के मुताबिक श्री श्री के पास व्यक्तिगत प्रसाधन, पूरक भोजन, खाने-पीने और अन्य सामानों के लिहाज से उत्पादों की व्यापक शृंखला मौजूद है। इसके अलावा उनकी योजना नाश्ते में इस्तेमाल होने वाले सामान, कुकीज, आटा, तेल, मसाले, पकाने के लिए तैयार उत्पादों को दुनिया के चुनिन्दा बाजारों में पेशकर अपनी पहुँच बढ़ाने की है। इन योजनाओं को अमली जामा पहनाने के लिए आर्ट ऑफ लिविंग के माध्यम से

विश्व संस्कृति महोत्सव का आयोजन जरूरी था ताकि दुनिया भर में अपना विज्ञापन किया जा सके।

धर्म और व्यवसाय का ये रिश्ता नया नहीं है। टीवी पर प्रसारित प्रवचन हो, कोई बड़ा आन्दोलन हो या सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन हो, सभी के इर्दगिर्द धर्म और व्यवसाय का तंत्र तैयार कर दिया गया है। कारोबार के क्षेत्र में कदम रखने वाले बाबाओं का सीधा सम्बन्ध अपने समर्थकों के व्यापक आधार पर उनकी मजबूत पकड़ से है। भारत अन्धविश्वास, धार्मिक पाखंड और सिद्ध पुरुषों का देश है। जनता में अवैज्ञानिक सोच रखने वालों की बहुतायत है। इससे इन बाबाओं के लिए अपने अनुयायी तैयार करना बेहद आसान है। इन्हीं के दम पर इनका कारोबार फैलता है और इनकी संख्या से ही बाबाओं की हैसियत तय होती है। यही वोट बैंक की राजनीति में बाबाओं का भाव तय करते हैं। विश्व सांस्कृतिक महोत्सव के दौरान सत्ता और सन्तों का यह गठजोड़ खुलकर सामने आ गया।

एक ताजा उदाहरण भी देखिए। बाबा रामदेव और लालू यादव के बीच एक-दूसरे के खिलाफ बयानबाजी सुनकर लगता था कि वे एक-दूसरे के जानी दुश्मन हैं। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय योग दिवस का न्योता देने बिहार गये बाबा रामदेव ने लालू को पावर वीटा और एनर्जी बार खिलाया तथा उनके गालों पर विशेष क्रीम लगाकर कहा कि उन्हें बूढ़ा नहीं होने दिया जायेगा। इसके बदले लालू ने कहा कि मैं रामदेव का स्थायी ब्रांड अम्बेसडर हूँ। भारतीय राजनीति में अवसरवाद और आध्यात्म में चाटुकारिता का यह एक धिनौना उदाहरण है। इन नेताओं और बाबाओं के अनुयायी एक-दूसरे से लड़-मरने के लिए तैयार रहते हैं। लेकिन एक दिन अपने पिछले कर्मों और बयानबाजियों पर पलटी मारते हुए, ये अपने धुर विरोधी को भी गले लगा लेते हैं।

धर्म, व्यवसाय और सत्ता के इस अपवित्र गठबंधन से उच्च वर्ग के लोगों की तिजोरियाँ भरती रहें और बाबाओं का धंधा फलता-फूलता रहे, यही असली आर्ट ऑफ लिविंग है, बाकी सब माया है।



# स्टार्ट अप इंडिया क्या बला है ?

—विक्रम प्रताप

अगर सरकार की आर्थिक नीतियों के बारे में बताना हो तो एक मुहावरे की तर्ज पर कहा जा सकता है, 'खोदा पहाड़, निकला स्टार्ट अप इंडिया'। 2015 की शुरुआत को भारतीय स्टार्ट अप का स्वर्णकाल माना जा सकता है। खाद्य तकनीक, कृषि उद्योग, स्वास्थ्य तकनीक, मोबाइल फोन और अन्य तकनीकी उद्यमों में पैसा पानी की तरह बह रहा था। उत्पादन से जुड़े उद्योगों से निराश हो चुके निवेशकों के लिए यह एक सुनहरा मौका था। जो इस मौके से चूक जाते वे पिछड़ जाने वाले थे। स्टार्ट अप इंडिया ने माहौल को गरमा दिया था। यह योजना उस सरकार की मानस पुत्री थी, जो देश के आर्थिक संकटों से लड़ने के लिए कृतसंकल्प थी। कुल मिलाकर स्टार्ट अप इंडिया मंदी की मार से जूझते भारतीय अर्थ जगत में उम्मीद की एक किरण जैसा था। उस समय कोई दावा नहीं कर सकता था कि थोड़े ही समय बाद यह योजना अर्थ से फर्श पर आ जायेगी।

2008 में आयी मंदी समय के साथ जैसे-जैसे गहराती गयी, इसने पूँजीपतियों के खेमे में चरम निराशा पैदा की। उत्पादक उद्योगों में कोई पूँजी लगाने के लिए तैयार नहीं था। पूँजी निवेशक उद्योगों में पूँजी निवेश करने से डर रहे थे क्योंकि उन्हें मुनाफा वापसी की कोई सम्भावना नहीं दिख रही थी। अर्थव्यवस्था में पूँजी का प्रवाह थम सा गया था। 2014 में सरकार बदली, पूँजीपतियों के अच्छे दिन आ गये। उन्हें उम्मीद की रोशनी दिखायी देने लगी। ऐसे समय मेक इन इंडिया, स्टार्ट अप इंडिया और स्टैंड अप इंडिया जैसे नारे आये।

## स्टार्ट अप इंडिया यानी टटपूँजियों को बढ़ावा

15 अगस्त 2015 को प्रधानमंत्री मोदी ने लाल किले से स्टार्ट अप इंडिया अभियान की घोषणा की। लेकिन यह कोई मौलिक खोज नहीं थी। मंदी से बचने के लिए इसे दुनिया भर में पहले से ही आजमाया जा रहा है। स्टार्ट अप इंडिया एक विश्वव्यापी रणनीति पर आधारित है, जिसके तहत बैंकों को नये उद्यमों में पैसा निवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यह उद्योगों के मामले में राज्य के हस्तक्षेप को सीमित करती है। यह लाइसेंस राज या इस्पेक्टर राज से मुक्ति, जमीन का बेरोकटोक अधिग्रहण, श्रम कानूनों में ढील, विदेशी निवेश के प्रस्ताव और पर्यावरण मानकों में छूट जैसी माँगों पर आधारित है। 25 करोड़ से कम सालाना आय वाले उद्यम ही इसके अन्तर्गत आते हैं। इसकी कई विशेषताएँ हैं। इसमें हाथों-हाथ प्रोजेक्ट को पास कराना, मुनाफे पर टैक्स से 3 साल की छूट, नौकरशाही के हस्तक्षेप का खात्मा, दिवालिया या बर्बादी की स्थिति में मदद के लिए विशेष कोष का गठन, औचक निरीक्षण से 3 साल के लिए छुटकारा आदि लुभावनी नीतियाँ शामिल हैं। पेटेंट रजिस्ट्रेशन फीस में 80 प्रतिशत तक की कटौती की गयी है। 10 हजार करोड़ रुपये का विशेष कोष बनाया है, जो दिवालिया होने वाले उद्यमियों को सहारा दे। इसे कोषों का कोष कहा गया है। इस तरह कुल मिलाकर टटपूँजिया यानी छोटे पूँजीपतियों को अपनी आर्थिक गतिविधियाँ चलाने और उन्हें आगे बढ़ाने के लिए सरकार की ओर से भारी छूट दी

गयी है। यह बेवजह नहीं है कि मीडिया स्टार्ट अप इंडिया का गुणगान कर रहा है। सम्पन्न मध्यमवर्ग के चेहरे का नूर लौट आया है। देशभर में कुल 4200 स्टार्ट अप शुरू किये गये हैं। भारत इस मामले में दुनियाभर में तीसरे स्थान पर है।

देश की डूबती अर्थव्यवस्था को तिनके के सहारे बचाने की इस कोशिश का नाम ही स्टार्ट अप इंडिया है। हालाँकि यह व्यवस्था को बर्बादी से बचा पायेगी, इसमें संदेह है। स्टार्ट अप इंडिया कार्यक्रम में अनेकों कमियाँ हैं, उनकी सैद्धान्तिक व्याख्या के बजाय धरातल पर एक स्टार्ट अप प्राजेक्ट की बर्बादी के बारे में जानना कहीं अधिक ज्ञानवर्धक होगा।

## टाइनीआउल की

### दास्तान-ए-बर्बादी

2016 की शुरुआत से फूडटेक स्टार्टअप कम्पनी टाइनीआउल की हालत पतली होती जा रही थी। हर महीने 2.5 करोड़ रुपये उड़ाने वाली कम्पनी दिवालियेपन के कगार पर पहुँच गयी थी। उसके पास केवल 18 करोड़ रुपये शेष थे। पिछले 18-20 महीनों में कम्पनी ने जबरदस्त वृद्धि करते हुए 152 करोड़ जुटाये थे। लेकिन धीरे-धीरे निवेशक साथ छोड़ते गये और कम्पनी के सारे रास्ते बंद हो गये। स्टार्टअप की दुनिया का यह चमकता सितारा गर्दिश में पहुँच गया। सितम्बर में कम्पनी ने 300 कर्मचारियों को बाहर का रास्ता दिखा दिया। कम्पनी से निकाली गयी 30 साल की एक महिला कर्मचारी ने टाइनीआउल के मुख्य संस्थापक और कार्यकारी अधिकारी हर्षवर्धन मन्दाड पर

एक सवाल दागा, “मुझे नौकरी से निकालकर आपने कितनी रकम बचा ली है?” इस घटना ने कम्पनी के पतन पर जैसे मुहर लगा दी हो। आईआईटी मुम्बई से निकले मन्दाड ने ही उस महिला का साक्षात्कार लिया था और उनकी चमत्कारिक प्रतिभा भी कम्पनी को डूबने से नहीं बचा पायी। बल्कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि उनकी प्रतिभा ने कम्पनी को डुबोने में मदद की।

जुलाई 2015 की बात है, जब संस्थापक के साथ पूरी टाइनीआउल कम्पनी जोश में थी क्योंकि कम्पनी को प्रतिदिन 2500 से अधिक ऑर्डर मिल रहे थे। जबकि भारत की सबसे बड़ी फूडटेक कम्पनी जोमैटो दिन में 3000 ऑर्डर ही ले पाती थी। लेकिन कुछ समय बाद यह साफ हो गया कि इस गलाकाट प्रतियोगिता में टिके रहने के लिए ग्राहकों को लुभाना जरूरी है और यह काम कम्पनी के मुनाफे को भी दांव पर लगाकर किया गया। ग्राहकों को छूट देने में बड़ी धनराशी को झोंक दिया गया। हर महीने 8-10 करोड़ रुपये का व्यय कम्पनी कब तक उठा सकती थी जबकि नवम्बर तक उसके पास महज 52 करोड़ रुपये बच गये थे। कम्पनी की आय लगातार गिरती जा रही थी। कम्पनी ने दुनियाभर के निवेशकों के सामने झोली फैला दी। नतीजा ढाक के तीन पात। हारकर संस्थापक ने कम्पनी का एक हिस्सा अपने प्रतिद्वंद्वियों को बेचने की गुहार लगायी। बर्बादी शुरू हो गयी थी। नवम्बर 2015 में जब कम्पनी ने दिवाली के समय छँटनी शुरू की तो उसकी तबाही सतह पर आ गयी, क्योंकि दिवाली के समय खाने के ऑर्डरों की भरमार रहती है। छँटनी के समय मालिक और कर्मचारियों के सम्बन्ध इतने बिगड़ गये कि कुछ कर्मचारियों को दफ्तर में ही कैद कर लिया गया। तू-तू, मैं-मैं, झगड़ा और मारपीट की नौबत आ गयी। इस घटना ने कम्पनी की रही सही इज्जत मिट्टी में मिला दी। छँटनी के बाद कम्पनी का मासिक खर्च घटकर 4 करोड़

रुपये तक आ गया। उसे मात्र 1000 ऑर्डर मिल रहे थे। कम्पनी ने छूट बन्द कर दी। बंगलुरु की कम्पनी स्विगी उससे आगे निकल गयी।

कम्पनी ने एक नया निर्णय लिया जिससे कम्पनी बन्द होने के कगार पर पहुँच गयी। अब उसने दिन में केवल एक ही व्यंजन बेचना शुरू किया। इससे ऑर्डरों की संख्या घटकर दिन में महज तीन रह गयी। इतने बुरे दिन आयेंगे, किसी ने सोचा न था। लेकिन ठहरिये, अभी किस्सा बाकी है। कम्पनी के प्रबन्धकों ने मुख्य तकनीकी अधिकारी को नौकरी पर रख लिया। जिसकी सालाना पगार 1.5 करोड़ रुपये थी और जिन्हें कम्पनी में कदम रखते ही 50 लाख रुपये का बोनस दिया गया। इस फिजूल खर्ची से निवेशक कम्पनी से और दूर छिटक गये। इस नये अधिकारी के खर्च को सन्तुलित करने के लिए 10 कर्मचारियों को नौकरी से निकाल दिया गया। पिछले साल कम्पनी की तकनीकी टीम में 200 लोग थे, अब केवल 20 लोग बचे रह गये थे। जबकि 1100 कर्मचारियों में से मात्र 200 ही अब काम पर रह गये थे। कम्पनी के मालिकों ने कम्पनी को बेचने की योजना बनानी शुरू कर दी।

## टाइनीआउल अकेली नहीं है

जोमैटो कम्पनी ने बिक्री लक्ष्य पूरा न होने के चलते अपने 300 कर्मचारियों को नौकरी से निकाल दिया है। बंगलौर की फूडटेक कम्पनी डैजो ने पूँजी की कमी के कारण अपना कारोबार बन्द करने की घोषणा कर दी। स्पूनजॉय फूडटेक की हालत खराब चल रही है। शोध संस्था त्रैक्सन के एक सर्वे के अनुसार पिछले साल जनवरी से लेकर अब तक देशभर की फूडटेक स्टार्टअप कम्पनियों ने कुल 1138.4 करोड़ रुपये निवेश के जरिये जुटाये। लेकिन सभी का अन्त बेहद दुखद रहा। मोबाइल पर विज्ञापन देने वाली स्टार्टअप कम्पनी इनमोबी भी गूगल और फेसबुक जैसी दिग्गज कम्पनियों से प्रतियोगिता में पिछड़ गयी है। छँटनी के

चलते उसके 1000 कर्मचारियों में से 100 कर्मचारियों की नौकरी चली गयी। 2011 में इसने जापान की सॉफ्टबैंक वित्तीय संस्था से 1330 करोड़ का निवेश जुटाया था जिससे इसका बाजार पूँजीकरण 6661 करोड़ तक पहुँच गया। अब इसके निवेशक कम्पनी की लागत कम करने के लिए उसपर दबाव बना रहे हैं। अभी ई-कॉमर्स की दिग्गज कम्पनियाँ जैसे फ्लिफ्लार्ट और ओला वृद्धि कर रही हैं लेकिन बाजार के हालात से पता चलता है कि उनकी वृद्धि अधिक दिनों तक कायम नहीं रहने वाली है। एक अन्य ई-कॉमर्स कम्पनी स्नैपडील ने अपने 200 कर्मचारियों को छँटनी का नोटिस पकड़ा दिया है। पिछले साल रीयल स्टेट पोर्टल कम्पनी हाउसिंग डॉट कॉम ने अपने 2251 कर्मचारियों में से 600 को निकाल दिया। स्टार्ट अप कम्पनियों ने भारतीय प्रबंधन संस्थान के छात्रों का बढ़-चढ़कर प्लेसमेंट किया था। छात्र नौकरी लगने पर बहुत खुश थे लेकिन अब ये कम्पनियाँ उन्हें नियुक्ति देने में देर कर रही हैं। कुछ कम्पनियों ने तो छात्रों को 6 महीने बाद आने के लिए कहा है। ये बातें स्टार्ट अप कार्यक्रमों के ढलान को दिखा रही हैं। यानी अब स्टार्ट अप अपने ‘दि एंड’ की ओर बढ़ रहा है। जैसा कि अधिकतर व्यवसायों में होता है, इनमें से कुछ कम्पनियाँ प्रतियोगिता में टिकेंगी और बाकी ढेर सारी बर्बाद हो जायेंगी।

आज यह बात समझने की जरूरत है कि उद्योगों की नीति बनाने में राज्य या सरकार की भूमिका कम क्यों की जा रही है और पहले राज्य की भूमिका अधिक क्यों थी? किसी भी मुद्दे पर बहस करते समय यह बात याद रखनी चाहिए कि हम एक ऐसे देश में रहते हैं, जहाँ आधी से अधिक आबादी भयंकर गरीबी में जीवन जीती है। अगर सरकारी योजनाओं में उनके विकास के लिए धन आवंटित नहीं होगा तो उनकी स्थिति और अधिक खराब हो जायेगी। लाइसेंस राज या परमिट-कोटा आदि की व्यवस्था इसलिए की गयी थी कि सभी वर्गों

में सन्तुलन कायम रहे, उद्योगपति मजदूरों का निर्मम शोषण न कर पाये, किसानों की जमीनों का जबरदस्ती अधिग्रहण न हो, उद्योग के नाम पर कोई काला धंधा न चला पाये, अधिक आय के लोग नियमित टैक्स चुकाते रहें और देश का पर्यावरण साफ-सुथरा हो, इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही मुनाफाखोरी पर सरकारी नियंत्रण लगाया गया था, जिसे हटाकर इन्हें हर तरह की सहूलियत देने का अर्थ है— गरीब और शोषित वर्ग को कानून की सुरक्षा से भी बेदखल कर देना और उच्च वर्ग को लूट का स्थायी ठेका दे देना।

एक बात साफ हो गयी है कि अगर व्यवस्था की जड़ में खराबी आ गयी है तो उसे ऊपरी सुधारों से ठीक नहीं किया जा सकता। बेरोजगारी, किसानों की बर्बादी और मुट्ठीभर अमीरजादों को छोड़कर हर तबके की गिरती आय से पूरी जनता की क्रयशक्ति खत्म हो गयी है। अगर जरूरत के सामान खरीदने के लिए जनता के पास धन नहीं है तो उद्योगों को ऊपर से कर्ज या सब्सिडी देकर या अन्य किसी तरीके से इस समस्या का इलाज नहीं किया जा सकता। इस समस्या ने बेहद भयावह रूप धारण कर लिया है। इसका अब मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया, स्टार्ट अप इंडिया और स्टैंड अप इंडिया जैसा कोई नीम हकीमी इलाज सम्भव नहीं है। जनता की जिन्दगी को बेहतर बनाये बिना, उद्योगों में नयी जान फूँकना सम्भव नहीं। अगर शासक वर्ग इस व्यवस्था की लाइलाज बीमारी के लक्षणों का ही इलाज करते रहे तो यह रोग और अधिक विकराल रूप धारण करता चला जायेगा। वह दिन दूर नहीं जब जनता की दुःख-तकलीफों की चक्की में शासक वर्ग खुद पिस जायें। जनता उठ खड़ी हो और स्टार्ट अप इंडिया की जगह 'रन अवे फ्रॉम इंडिया' का नारा न दे दे।

## भारत में गहराता आर्थिक संकट

-मोहित पुंडीर

**पिऊ अनुसंधान केन्द्र** ने 2015 में यूरोप के आधे दर्जन देशों में एक सर्वे किया। जिसमें लोगों की आय में बदलाव, रोजगार की स्थिति और वर्तमान समाज व्यवस्था से सम्बन्धित सवालों के जवाब जुटाये गये। इस सर्वे के नतीजे चौकाने वाले हैं। इस सर्वे से यह बात सामने आयी कि आबादी के एक बड़े हिस्से में अर्थव्यवस्था को लेकर 'चरम निराशा' है। जर्मनी के 58 फीसदी, ब्रिटेन के 68 फीसदी और फ्रांस के 85 फीसदी लोगों ने कहा कि उनके बच्चों की दशा पिछली पीढ़ी से भी बुरी है। पूरे यूरोप में बेरोजगारी ऊँचे स्तर पर बनी हुई है। इससे अधिक आश्चर्यजनक क्या होगा कि जिस स्पेन को यूरोप की सफल अर्थव्यवस्था के तौर पर प्रचारित किया जा रहा था, वहाँ बेरोजगारी की दर अब भी अविश्वसनीय ढंग से 45 फीसदी है। अधिकांश विकसित देशों में बेरोजगारी की दर 15 फीसदी से ऊपर है। इससे साफ जाहिर है कि इन विकसित अर्थव्यवस्थाओं की आबादी का एक बड़ा हिस्सा दर-दर की ठोकें खाने को विवश है। वहीं दूसरी ओर छोटी-बड़ी सभी कम्पनियों में कर्मचारियों की छँटनी की जा रही है और बचे कर्मचारियों के वेतन में कटौती की जा रही है। इसी के साथ आर्थिक गैरबराबरी पिछली एक सदी के चरम पर है। पिछले कई दशकों से जारी यह सिलसिला 2008 के वित्तीय संकट के बाद तेजी से जोर पकड़ता गया है।

दुनिया की आर्थिक गतिविधियों के अगुआ यूरोप की ऐसी स्थिति से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि गहराते आर्थिक संकट और उसके प्रभाव को न अब छिपाया जा सकता है और न ही नजरअन्दाज किया जा सकता है। आज संकट के सभी नीम-हकीमी नुस्खे विफल हो गये हैं। 2008 की वैश्विक मंदी के बाद से विश्व व्यापार की विकास दर में 4.5 फीसदी की गिरावट आयी जो पिछले 20 वर्षों का सबसे निचला स्तर है। यूरोपीय देशों के निर्यात में लगभग 50 फीसदी तक की गिरावट आयी है। रूस की उभरती अर्थव्यवस्था में भी 2008 के बाद से आयत में लगभग 60 फीसदी और निर्यात में लगभग 50 फीसदी की गिरावट दर्ज की गयी। यह चौकाने वाले आँकड़े वैश्विक माँग में आयी भारी गिरावट को दिखाते हैं, जिसका बहुत गहरा प्रभाव पूरी दुनिया पर पड़ रहा है।

आज दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था, चीन भी संकट की गिरफ्त में है। पिछले 30 वर्षों से चीन की आर्थिक वृद्धि दर औसतन 10 फीसदी थी, इस दौरान चीन दुनिया की अर्थव्यवस्था के विकास का इंजन कहा जाता था। अब उस इंजन की रफ्तार भी सुस्त पड़ती जा रही है। 2013 से चीन की अर्थव्यवस्था लगातार गिरावट की शिकार है और आज सबसे निचले स्तर पर पहुँच गयी है। 2008 की मंदी के बाद अमरीका और यूरोप में मौजूद सुस्ती के असर को चीनी अर्थव्यवस्था ने कम किया था और तब से वह वैश्विक अर्थव्यवस्था में एक तिहाई हिस्से का अकेले योगदान करता रहा। लेकिन आज वैश्विक माँग में कमी और तेल की कीमतों में भारी गिरावट के चलते चीन खुद संकटग्रस्त हो गया है। अर्थशास्त्रियों का मत है यह संकट अभी और गहरायेगा और 2008 की मंदी से अधिक विध्वंसक साबित होगा। आज पूरी दुनिया एक ऐसा वैश्विक गाँव बन गयी है, जिसमें पूँजीवाद की सारी बीमारियाँ जो पहले यूरोप और अमरीका में होती

थी, हर जगह पहुँच गयी हैं। इसका प्रभाव क्षेत्र कई गुणा बढ़ गया है। वैश्विक मंदी के दौर में भारत की अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव और संकट के कारणों की जाँच-पड़ताल करना बेहद सामयिक और जरूरी है।

## भारत की स्थिति

हाल में ही जाने माने कारोबारी और रोजर्स होल्डिंग के संस्थापक जिम रोजर्स ने कहा कि 'अगले कुछ वर्षों में वैश्विक वित्तीय बाजारों में समस्याएँ आने वाली हैं, भारत सरकार अर्थव्यवस्था को नहीं समझ पा रही है और उसे अर्थव्यवस्था एवं बाजार को अकेला छोड़ देना चाहिए'। रोजर्स के कथन को समझने के लिए हमें भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगों की चीर-फाड़ करनी होगी।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की नब्ज बताने वाले शेयर बाजार का सेन्सेक्स फिसलकर पिछले 2 सालों के सबसे निचले स्तर पर है। रुपया भी सबसे निचले स्तर के करीब है, एक डॉलर की कीमत 68 रुपये से अधिक हो गयी है। औद्योगिक विकास दर भी लाल निशान को पार कर गयी है। मई 2014 में 4.7 फीसदी की औद्योगिक विकास दर 2015 आते-आते -1.3 तक गिर गयी। इस साल सकल घरेलू उत्पाद यानी जीडीपी की वृद्धि दर भी घटकर 7-7.5 फीसदी तक रह गयी है जिसके बारे में 8.5 फीसदी तक रहने का अनुमान लगाया गया था। सरकार ने पिछले बजट में राजस्व घाटा 3.9 फीसदी से नीचे ले आने का लक्ष्य रखा था, जो दूर की कौड़ी साबित हुआ। साल 2015-16 में आयकर और कॉर्पोरेट कर जैसे प्रत्यक्ष कर से कमाई में भी 40 हजार करोड़ की कमी आने का अनुमान है। हालाँकि पेट्रोल और डीजल पर लगातार उत्पादन शुल्क बढ़ाकर और सेवाकर जैसे अप्रत्यक्ष कर से सरकार किसी तरह लक्ष्य के मुताबिक कमाई कर पायेगी। शुरूआती तथ्य संकट की ओर संकेत करते नजर आ रहे हैं, तो यह जरूरी हो जाता है कि गहराई में जाकर तथ्यों की छानबीन की जाये।

## रोजगार की स्थिति

किसी भी अर्थव्यवस्था के सुचारू रूप से चलते रहने का सबसे महत्वपूर्ण संकेत है कि वह लगातार नये रोजगार का सृजन करे। आज भारत में रोजगार की स्थिति का मूल्यांकन करने से अर्थव्यवस्था को समझने में मदद मिलेगी। हाल में जारी श्रमिक सर्वे की रिपोर्ट के अनुसार 2015 में रोजगार वृद्धि दर सात वर्षों के सबसे निचले स्तर पर थी। 2015 में रत्न, आभूषण, हथकरघा, चमड़ा और वाहन उद्योग समेत देश के 8 प्रमुख श्रम आधारित उद्योगों में 1 लाख 35 हजार रोजगार के अवसर सृजित हुए थे, जबकि यह संख्या वर्ष 2014 में 4 लाख 21 हजार और वर्ष 2009 में 12 लाख 8 हजार थी। वहीं दूसरा पहलू कहीं अधिक चौकाने वाला है, जहाँ एक ओर इन क्षेत्रों में वर्ष 2010 में 10 लाख नौकरियाँ सृजित हुईं, वहीं पिछले पाँच साल में छँटनी के कारण 15 लाख लोगों को नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। नैसकाम संस्था

द्वारा जारी कुछ तथ्यों से अन्य क्षेत्रों की स्थिति का भी अन्दाजा लगाया जा सकता है। जैसे- खेती में 2005 से 2010 तक 1 करोड़ 57 लाख रोजगार कम हुए हैं और यह प्रक्रिया हाल ही के वर्षों में और तेज हुई है। वर्ष 2011 और 2012 में बैंकों में सालाना 1 लाख 24 हजार रोजगार उत्पन्न हुए थे, लेकिन 2015 में यह सिर्फ 33 हजार तक सीमित रह गये। वर्ष 1970-72 में एक कारखाने में औसतन 65 लोग काम करते थे, अब केवल 45 लोग काम करते हैं, जो संख्या बढ़नी चाहिए थी उसमें गिरावट के चलते भयंकर बेरोजगारी आज भारत की वास्तविकता है। आईटी या बीपीओ में जहाँ 2011 में नौकरी की तलाश में लगे तकनीकी योग्यता प्राप्त लोगों में से 33.1 फीसदी को काम मिल गया था, वहाँ 2015 में सिर्फ 17.4 फीसदी लोगों को ही काम मिल पाया। भारत के श्रम बाजार में हर महीने लगभग 10 लाख नये श्रमिक जुड़ रहे हैं, जिनमें से लगभग 15 फीसदी भी न्यायोचित रोजगार नहीं पा रहे हैं।

## बर्बाद होता बैंकिंग क्षेत्र

आठ फरवरी के इण्डियन एक्सप्रेस की खबर के मुताबिक सरकारी बैंकों का बट्टा खाता एक लाख चौदह हजार करोड़ पहुँच गया है, इसका मतलब है कि सरकारी बैंकों ने ऐसे विशाल ऋण की राशि को बट्टे खाते में डाल दिया है जिसकी वसूली आसान नहीं रह गयी है, यह धन भारत के सभी लोगों द्वारा एक साल तक मेहनत-मजदूरी करके कमाये गये धन से भी अधिक है, जो बर्बाद कर दिया गया। ताजा आँकड़े बतलाते हैं कि देश के 29 सरकारी बैंकों ने 2013-15 की अवधि में 1.14 लाख करोड़ रुपये के ऋणों को बट्टे खाते के हवाले किया। इस तीन वर्षीय वित्तीय अवधि में अकेले स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने 40 हजार करोड़ रुपये से अधिक रुपये को बट्टे खाते में डाला है। इसके साथ-साथ पंजाब नेशनल बैंक, इन्डियन ओवरसीज बैंक, इलाहाबाद बैंक, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, सिंडिकेट बैंक जैसे सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक शामिल हैं।

बट्टे खाते में डाली गयी यह राशि तो कुछ भी नहीं, अगर बैंकों द्वारा दिये गये कुल कर्ज का अनुमान लगाया जाय तो यह राशि कई लाख करोड़ बैठेगी। सरकारी बैंकों से कर्ज लेकर न देने वाले मुख्यतः बड़े-बड़े कॉर्पोरेट घराने के लोग हैं जिन्हें सरकारी प्रश्रय प्राप्त है। गौतम अडानी को स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने करीब पाँच हजार करोड़ रुपये का कर्ज दिया जबकि आज भी उस पर 81 हजार करोड़ रुपये का कर्ज बकाया है। देश के सबसे अमीर व्यक्ति मुकेश अम्बानी की देनदारी 1 लाख 13 हजार करोड़ से भी अधिक है। चोटी के 10 कॉर्पोरेट घरानों ने पिछले वर्ष 7,33,345 करोड़ रुपये कर्ज लिए थे जो कि 2013 से 16 प्रतिशत अधिक है। इसमें शामिल हैं एस्सार, रिलायंस, अडानी, जीएमआर, जीवक, वीडियोकोन, और वेदान्ता। ये सरकार को भरोसा दिलाते हैं कि वे बैंकों को रुपया अदा कर देंगे। इन देनदारों में विजय माल्या का

नाम बहुत कुख्यात हो गया है, जब बैंकों ने उससे 9000 करोड़ रुपये के कर्ज की वसूली का दबाव बनाया तो वह सरकार की आँखों के सामने पूरी ढिठाई से विदेश भाग गया और वहाँ से ललकार रहा है कि कुछ भी करो कर्ज वापस नहीं मिलने वाला।

दूसरे पहलू पर नजर डालें तो स्थिति और भी भयावह है। जिन कर्जों के डूबने की खबर आयी है वे मुख्यतः बड़े कर्ज हैं, लेकिन बिजनेस स्टैंडर्ड की एक खबर के मुताबिक छोटे कर्जों में भी बैंकों के तकरीबन 2 लाख करोड़ रुपये फँसे हुए हैं, जिन्हें बड़े कर्जदारों के चलते नजरंदाज किया जा रहा है। यह खुलासा क्रेडिट इन्फॉर्मेशन ब्यूरो लिमिटेड (सिबिल) नाम की कम्पनी ने किया है जिसके पास बैंकों के आँकड़े उपलब्ध होते हैं। यह संकट केवल भारतीय बैंकों तक ही सीमित नहीं है बल्कि शाखा के हिसाब से भारत में सबसे बड़े बैंक स्टैन्डर्ड चार्टर्ड इण्डिया का साल 2015 में टैक्स से पहले नुकसान 6729 करोड़ रुपये था, जबकि एक साल पहले उसे 3848 करोड़ रुपये का मुनाफा हुआ था। औद्योगिक क्षेत्र में जारी गिरावट का यह स्पष्ट परिणाम है। एसोचेम और मूडीज दोनों का अनुमान है कि स्टील, टेक्सटाइल, हाइवे, इन्फ्रास्ट्रक्चर आदि में मंदी के चलते अभी बैंकों के 2 लाख करोड़ रुपये और डूबेंगे।

रिजर्व बैंक के गवर्नर रघुराम राजन ने संसदीय समिति को बताया कि बैंकों के डूबे कर्जों की वजह घेरलू और वैश्विक 'अर्थव्यवस्था में व्यापक मंदी' है। यह वक्तव्य पूरी कहानी को स्पष्ट नहीं करता है, बल्कि काफी कुछ छिपा लेता है। सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि बैंक गरीब किसानों से 50 हजार या एक लाख रुपये का कर्ज जबरन वसूल करते हैं। लेकिन अब तमाम बैंक और खुद रिजर्व बैंक भी करोड़ों का कर्ज डकार जाने वाले अमीरों को 'अर्थव्यवस्था में व्यापक मंदी' की आड़ में बचा रहे हैं। जबकि कर्ज और सूदखोरी के दबाव के चलते किसानों की आत्महत्या का सिलसिला थमता नजर नहीं आता। यह बात सही है

कि वैश्विक माँग में कमी के चलते उद्योग लगातार घाटे में जा रहे हैं, जिसके चलते पूँजीपतियों को घाटा हो रहा है। लेकिन सरकार उन्हें बचाने के लिए देश का खजाना खोल देती है। मतलब मुनाफा तो कम्पनी का निजी है, लेकिन नुकसान पूरा देश उठाये। इसे ही 'मुनाफे के निजीकरण और घाटे के समाजीकरण' का सिद्धान्त कहते हैं। मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई को मुट्ठीभर पूँजीपतियों के मुनाफे की अन्तहीन भूख को शान्त करने में झोंका जा रहा है।

### घाटे में बड़े कारोबार

बीते साल का नवम्बर आते-आते भारत के आयात में 24.32 फीसदी और निर्यात में लगभग 30.26 फीसदी की गिरावट आयी, यह गिरावट लगातार 12वें महीने भी जारी है। इन क्षेत्रों से जुड़े हजारों उद्योग आज बर्बादी की कगार पर हैं। नोकिया ने घाटे और बढ़ते कर्ज के चलते चेन्नई का प्लांट बन्द कर दिया, जिससे 8 हजार लोगों को नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। वहीं दूसरी ओर देश के सबसे बड़े सीमेन्ट उद्योग जेपी समूह पर तकरीबन 60 हजार करोड़ रुपये का कर्ज है, जिसके चलते वह अपनी 2.24 करोड़ टन सालाना सीमेन्ट उत्पादन क्षमता वाली परिसम्पत्ति को बेचेगा। इसी कड़ी को देश की सबसे बड़ी स्टील विनिर्माता कम्पनी टाटा स्टील आगे बढ़ाती नजर आ रही है। टाटा स्टील घाटे में चल रहे अपने यूरोपीय परिचालन को आंशिक या पूरी तरह से बेचने की योजना में है। याद रहे वर्ष 2007 में टाटा स्टील ने यह कोरस से खरीदा था तब उसे आज की स्थिति का दूर-दूर तक भी अनुमान नहीं रहा होगा। टाटा स्टील पर लगभग 25 हजार करोड़ का कर्ज है। कई बड़ी सरकारी कम्पनियों के शेयर तेजी से नीचे गिर रहे हैं जो उनकी वर्तमान स्थिति को स्पष्ट कर रही है। कोल इंडिया, ओएनजीसी, ऑयल इंडिया और बीएचईएल के शेयर मूल्य में 60 फीसदी तक की गिरावट आयी है। यही तस्वीर जानी मानी एयरलाइन्स कम्पनी एयर इंडिया पेश कर रही है। एक अधिकारी के

मुताबिक इस कम्पनी पर कुल 50 हजार करोड़ का कर्ज है, जिसके चलते कम्पनी के 49 फीसदी हिस्से को बेचने की तैयारी चल रही है।

दूसरी ओर जो कम्पनियाँ मुनाफा कमा रही हैं या जिनके मुनाफे में वृद्धि हो रही है, वे उत्पादन में वृद्धि या सामाजिक सम्पन्नता के चलते ऐसा नहीं कर पा रही हैं। इनके मुनाफे का मुख्य स्रोत असल में उत्पादों के दामों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी, केन्द्र सरकार द्वारा टैक्स में छूट और कौड़ियों के मोल जमीन व अन्य संसाधन हासिल करना है। ये सभी पहलू जिनके चलते कुछ उद्योगों में वृद्धि दर्ज की जा रही है वास्तव में नकारात्मक और विध्वंशक हैं, समाज में गैर-बराबरी को बढ़ावा देने वाले हैं और समाज में अस्थिरता पैदा करने वाले हैं।

### संकट का कारण

2008 का अमरीकी 'सब प्राइम बंधक संकट' या फिर वर्तमान समय में चीन के 'शेयर बाजार का विध्वंश' केवल पानी में तैरती बर्फ की विराट चट्टान का सतह से ऊपर चमकता हुआ छोटा भाग है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के संकट के कहीं गहरे कारण हैं और संकट इस व्यवस्था का अभिन्न अंग है। यह पूँजीवादी व्यवस्था का असाध्य संकट है।

पूँजीवादी व्यवस्था में बहुसंख्यक लोगों की जरूरतों को पूरा करने के बजाय अधिक से अधिक मुनाफा कमाने पर जोर दिया जाता है। यही इस व्यवस्था की प्रेरक शक्ति है। यह अर्थव्यवस्था में वृद्धि का इंजन है। पूँजीवाद का संकट बाढ़, सूखा या अन्य प्राकृतिक आपदाओं के चलते अभाव का संकट नहीं है, बल्कि सापेक्षिक अतिउत्पादन का संकट होता है। यानी संकट कम उत्पादन होना नहीं है, बल्कि अधिक उत्पादन है जो बिक नहीं पाता। अधिक उत्पादन से दाम गिर न जाये, मुनाफा खत्म न हो जाये, इसके लिए काफी सारा माल बर्बाद कर दिया जाता है। फैक्ट्रियाँ अपनी उत्पादन क्षमता से कम पैदा करती हैं, चाहे लाखों-करोड़ों लोग एक तरफ बेरोजगारी



और दूसरी ओर अभाव का शिकार हो जायें और गरीबी के दलदल में फंसकर नरक जैसी जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त हो जायें। अतिउत्पादन से मुनाफे में आयी कमी से लड़ने के लिए गेहूँ गोदामों में सड़ा दिया जाता है, दूध सड़क पर उड़ेल दिया जाता है और आलू की खेत से खुदाई नहीं की जाती है। दूसरी ओर भूख, कुपोषण और बीमारी से लाखों बच्चे मौत के मुँह में चले जाते हैं। यह पूँजीवादी व्यवस्था सिर से पैर तक सड़ गयी है। पूँजीपति का मुनाफा मजदूरों के शोषण पर टिका होता है। जितना अधिक शोषण उतना ही ज्यादा मुनाफा। यह काम की रफ्तार बढ़ाकर या छँटनी करके बाकी बचे मजदूरों के काम के घंटे बढ़ाकर हासिल किया जाता है। इससे पूँजीपति वर्ग का मुनाफा तो बढ़ जाता है लेकिन मजदूरों की मजदूरी और उनकी क्रय शक्ति कम होती जाती है। इसके चलते अतिउत्पादन का संकट आ जाता है। जब मजदूरों को पूरी मजदूरी नहीं मिलेगी तो भला वे चीजें कैसे खरीदेंगे? फलस्वरूप जनसंख्या के बड़े हिस्से में बेरोजगारी और तंगहाली पाँव जमाने लगती है।

## सटोरिया पूँजी संकट को और बढ़ा देती है

उत्पादन के क्षेत्र में गहराते संकट को देखते हुए, पूँजीपतियों ने आज ऐसी सटोरिया पूँजी को इजाद कर दिया है, जिसके केन्द्र में उत्पादन नहीं, बल्कि सट्टेबाजी है। यह नये किस्म की उच्च तकनीक आधारित जुएबाजी है। जिसे पुराने समय के बदनाम जुआरी नहीं बल्कि बहुत सम्मानित सट्टेबाज खेलते हैं। यह नये जमाने के पूँजीपति हैं। ये मकान पर सट्टेबाजी करके, बंधकपत्रों की खरीद बिक्री से, फसलों के वायदा कारोबार के जरिये या शेयर मार्केट में शेयरों की लिवाली-बिकवाली से अकूत मुनाफा कमाते हैं। सट्टेबाजी से जुड़ी वित्तीय कम्पनियों का कारोबार पूरी अर्थव्यवस्था के 95 फीसदी से भी अधिक हो गया है जो आधुनिक अर्थव्यवस्था के

परजीवी चरित्र को दिखाता है। 2008 की मंदी के समय इस सटोरिया कारोबार की हवा तब निकल गयी, जब मकान मालिक कर्ज की बढ़ी हुई किस्त चुकाने में असमर्थ हो गये। मकान के दाम तेजी से गिरने लगे। मकान की नीलामी से भी कर्ज पाटना सम्भव नहीं रह गया। मकान के ऊपर खड़े व्यवसाय जैसे गृह ऋण बंधक पत्र, बीमा कम्पनियाँ और बैंक बर्बाद होने लगे। तब से अब तक यह किस्सा न केवल बदस्तूर जारी है बल्कि नये-नये मुकाम हासिल कर रहा है। यह बर्बादी एक देश से दूसरे देश में होते हुए भारत तक पहुँच गयी है क्योंकि सटोरिया पूँजी का चरित्र आज वैश्विक हो गया है। सट्टेबाजी ने इतनी नकली पूँजी पैदा की है जिसे भुनाने के लिए दस से अधिक धरती की सम्पदा की जरूरत पड़ेगी। इतना ही नहीं यह सभी देशों की सरकारों को अपनी उँगलियों पर नचाती है। इसके साथ ही अब यह पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था को तबाह करने पर आमादा है। सटोरिया पूँजी पर आधारित इस व्यवस्था ने ही मेहनतकश जनता के हिस्से में तबाही और बर्बादी की दास्तान लिख दी है।

## विकल्प क्या है?

1990 में सोवियत संघ के विघटन के बाद 'पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं' जैसे नारे लगाने वालों की पोल अब पूरी तरह खुल चुकी है। इस व्यवस्था को एक मात्र विकल्प मानकर बढ़-चढ़कर इसमें शामिल होने वाले पूर्वी-एशियाई देशों में आर्थिक संकटों का ताँता लग गया। आज जापान, मेक्सिको, रूस, अर्जेंटीना, यूनान, चीन और खुद अमरीका में भी आर्थिक विध्वंस का यह सिलसिला लगातार जारी है। भारत भी इसकी चपेट में आ गया है। इस आर्थिक ठहराव के आते ही समूची आबादी के सामने तत्काल यह निर्णायक प्रश्न खड़ा हो गया है कि इसकी कीमत कौन चुकायेगा? सरकारें निष्पक्ष नहीं हैं। वे वेशर्मी से पूँजीपति वर्ग के पाले में खड़ी हैं। मुनाफा उनकी झोली में डाल रही हैं और

घाटा मेहनतकश वर्ग के ऊपर लाद रही हैं। यह व्यवस्था कितनी धिनौनी हो गयी है। कम्पनी का सीईओ प्रतिदिन दस लाख डॉलर खर्च करके दुनिया के सबसे महँगे रिसोर्ट में छुटियाँ मना रहा है और दूसरी ओर 100-200 रुपये की दवा के अभाव में एक बच्चा दम तोड़ देता है। देश के लाखों बच्चों की यह नियति बन गयी है। एक ओर अरबपतियों की संख्या हर साल बढ़ रही है तो वहीं दूसरी ओर हजारों कर्मचारियों को नौकरियों से निकाल दिया जाता है। समाज में वर्गीय विभाजन इतना स्पष्ट हो गया है कि इससे इनकार नहीं किया जा सकता। शासक वर्ग मंदी की समस्या को स्थायी तौर पर हल नहीं कर सकता है। मेहनतकश वर्ग के सम्मिलित प्रयास से ही विश्वव्यापी मंदी के शैतान को पराजित किया जा सकता है। तमाम सुधारवादी आज नाना प्रकार के सुधारों की घोषणा कर रहे हैं और रंग-बिरंगी चुनावी पार्टियों के नेता खोखले वादे कर रहे हैं। लेकिन छोटे-मोटे सुधार और नेताओं की खोखली बातें मंदी की इस भयावह समस्या का बाल भी बाँका नहीं कर सकती। दुनिया को तबाही की ओर ले जाने वाली शोषण पर टिकी इस व्यवस्था को नष्ट करके एक बेहतर, तार्किक, समतामूलक और स्वस्थ समाज व्यवस्था की स्थापना करना, समाजवादी समाज का निर्माण ही इस संकट का एक मात्र विकल्प है एक ऐसी समाज व्यवस्था जिसमें उत्पादन उपभोग के लिए हो, मुनाफे के लिए नहीं। सच पूछें तो पूँजीवादी व्यवस्था अपने आप में ही एक विकराल संकट बन गयी है। आज उत्पादन की शक्तियाँ इतनी ऊँचाई तक पहुँच गयी हैं कि पूरी इनसानियत को सम्मानपूर्ण जिन्दगी मुहैया कराना सम्भव है। अगर कोई बाधा है तो निजी मालिकाना, जो इस अपार उत्पादन क्षमता का गला घोट रहा है और इसके खात्मे से ही मंदी का स्थायी समाधान होगा।



# विश्व अर्थव्यवस्था रसातल में मजदूर आन्दोलन की नयी लहर

--विक्रम प्रताप

**हाँग-काँग से** प्रकाशित *चाइना लेबर बुलेटिन* के अनुसार पिछले साल चीन में मजदूरों के कुल 2,774 हड़तालों या आन्दोलनों के विवरण मिलते हैं, जो 2014 के आँकड़ों का दुगुना है। इस साल जनवरी में कुल 503 हड़तालें हो चुकी हैं, जबकि जनवरी 2011 में मात्र 8 हड़तालें हुई थीं। हड़तालों में विस्फोटक बढ़ती मजदूरों में बढ़ते असंतोष को दिखाती हैं। इसके साथ यह भी पता चलता है कि मजदूर अब और सहन करने की स्थिति में नहीं हैं। उनका शोषण इतना बढ़ गया है कि वे स्वतःस्फूर्त ढंग से राजनीतिक गतिविधियों में खींचे चले आ रहे हैं।

*चाइना लेबर बुलेटिन* ने बताया कि कम्पनी के मालिक और मजदूरों के बीच दो-तिहाई विवाद वेतन में कटौती के चलते पैदा हुए। स्थानीय अधिकारी श्रम कानूनों को ताक पर रखकर पूँजीपतियों के साथ खड़े हो गये हैं। 2008 में अमरीकी अर्थव्यवस्था के संकट में फँसने से पहले और उसके बाद भी चीनी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दुनिया के लिए इंजन का काम कर रही थी। लेकिन अब इसकी रफ्तार सुस्त पड़ने लगी है। पिछले साल अगस्त में चीन की मुद्रा का अवमूल्यन, शेयर बाजार में तेज गिरावट तथा निर्माण और विनिर्माण में सुस्ती से मजदूर वर्ग की हालत तेजी से खराब होती जा रही है। पिछले साल अगस्त में बीजिंग की स्थिति सिंगहुआ विश्वविद्यालय ने गुआंगदोंग की 600 फैक्ट्रियों के सर्वे में पाया कि हालाँकि 2014 में कम्पनियों के मुनाफे में अधिक गिरावट नहीं हुई लेकिन उन्होंने 3.7 प्रतिशत मजदूरों की छँटनी कर दी।

सिलसिलेवार आन्दोलनों से घबराया चीन का शासक वर्ग मजदूरों पर तेज हमले कर रहा है। वह आन्दोलन को गैर-कानूनी घोषित करके, आर्थिक दंड लगाकर और कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार करके जेल भेजकर आन्दोलन को तोड़ देना चाहता है। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी खुद को मजदूरों का मसीहा बताती है, लेकिन उसने नवउदारवादी वृद्धिवाद को गले लगा लिया है और पूँजीपतियों को अपनी पार्टी के शीर्ष पदों पर बैठा लिया है। दुनिया के सबसे बड़े मजदूर संगठन ऑल चाइना फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन पर कम्युनिस्ट पार्टी का कब्जा है। इसकी सदस्य संख्या 28 करोड़ है और इसमें 9.18 लाख पूर्णकालिक कर्मचारी काम करते हैं। इसके बावजूद नयी परिस्थितियों में यह संगठन मजदूर हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करता। प्रबंधक ही ज्यादातर यूनियन के नेताओं को नियुक्त करते हैं। ये नेता प्रबंधकों के विश्वासपात्र होते हैं और उन्हीं के इशारों पर काम करते हैं।

रूस के मास्को शहर से हजार किलोमीटर दक्षिण-पूर्व की ओर तोग्लिआत्ती शहर स्थित है। इस शहर में स्थापित कार निर्माण की कम्पनी अक्टोवाज के बुरे दिन चल रहे हैं। इस कम्पनी के हजारों कर्मचारियों की छँटनी कर दी गयी है और इससे जुड़े व्यवसायों की आय में गिरावट जारी है। कम्पनी के प्रबंधक अक्सर कर्मचारियों के साथ बुरा बर्ताव करते हैं। 2008 में अक्टोवाज कम्पनी में लगभग 110,000 कर्मचारी काम करते थे लेकिन इस साल फरवरी में कम्पनी में केवल 44,000 कर्मचारी बच गये। लोगों की जमापूँजी

खत्म होती जा रही है। इससे लोगों को दैनिक जरूरतों का सामान जुटाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। 28 फरवरी को रूस के कचकनार खदान और खनिज-प्रोसेसिंग प्लांट के 2000 मजदूरों ने अपनी नौकरी बचाने के लिए रैली निकाली। इन आँकड़ों से रूस की अर्थव्यवस्था के संकट का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। स्थानीय बाजार के संकुचन, वैश्विक तेल की कीमतों में गिरावट और युक्रेन संकट के बाद रूस पर पश्चिमी देशों के प्रतिबन्ध के चलते रूस की अर्थव्यवस्था संकट में फँस गयी है। लेकिन इन परिस्थितियों के बावजूद जनता पुतिन सरकार पर भरोसा करती है और भयानक भ्रम की शिकार है। लोगों का मानना है कि विदेशी निवेशक और निर्माता देश के बाजार को अस्थिर करके उस पर कब्जा जमाना चाहते हैं। जनता देशभक्ति, अन्धराष्ट्रवाद और साम्राज्यवादी भावनाओं के बीच झूल रही है।

उच एयरलाइन कम्पनी केएलएम ने 15,000 कर्मचारियों के वेतन में बढ़ोत्तरी पर रोक लगा दी है और कर्मचारियों को एक साल में एक दिन बिना वेतन के काम करने के लिए कहा है। साथ ही कम्पनी 3,000 कुलियों को निकालकर उनकी जगह अस्थायी कर्मचारियों को नियुक्त करेगी। कम्पनी कर्मचारियों कि बचत को नये हवाईजहाज खरीदने में खर्च करेगी। इसके चलते कर्मचारियों में भय का माहौल है क्योंकि उन्हें लगता है कि मंदी के इस दौर में उनकी जमा पूँजी डूब जायेगी। अल्बानिया की इंडिपेंडेंट ट्रेड यूनियन ऑफ माइनर ने 300 कर्मचारियों की नौकरी बचाने के

लिए बीइआरएएलबी माइनिंग कम्पनी के साथ समझौता किया है। इस कम्पनी ने अल्बानिया की सरकार के साथ 30 साल के लिए करार किया था लेकिन बाजार में तांबे के दाम में गिरावट के चलते इसने अपनी सभी खदानों को बन्द करने का फैसला किया है। इससे खनिकों की जीविका पर संकट छा गया। ट्रेड यूनियन के साथ समझौते के बाद अब इन खनिकों की नौकरी बचाई जा सकेगी।

23 अप्रैल को जर्मनी के हनोवर इलाके में दसियों हजार आन्दोलनकारियों ने यूरोपीय संघ और कनाडा के बीच हुए सीडीटीए समझौते और यूरोपीय संघ एवं अमरीका के बीच हुए ट्रांसअटलांटिक ट्रेड और इन्वेस्टमेंट पार्टनरशिप समझौते के विरोध में प्रदर्शन किया। 14 अप्रैल को इटली की ट्रेड यूनियन सीआईएसएल और सीजीआईएल ने हड़ताल पर जाने का फैसला किया। यह हड़ताल बहुराष्ट्रीय कम्पनी हेडेलबर्ग सीमेंट के उस निर्णय के खिलाफ था जिसमें जुलाई 2015 को कहा गया था कि कम्पनी नये सिरे से समायोजन करेगी लेकिन उसमें मजदूरों का हित सुरक्षित नहीं था। इस योजना के चलते इस साल 415 कर्मचारियों की नौकरी खतरे में पड़ जायेगी।

13 अप्रैल को अमरीका में वेरिजोन वायरलेस कम्पनी के 36,000 कर्मचारी हड़ताल पर चले गये। वे कम्पनी की उस नीति के खिलाफ हैं जिसके चलते कम्पनी आउटसोर्सिंग करके कम वेतन पर मेक्सिको, फिलिपिन्स और डोमिनिकन रिपब्लिक के कर्मचारियों से काम करा लेती है, और नियमित कर्मचारियों के वेतन में कटौती कर देती है या उनकी छँटनी कर देती है। इसके चलते कम्पनी ने 2015 में 30 करोड़ डॉलर बचा लिया और कुल 890 करोड़ डॉलर का मुनाफा कमाया। शिकागो के सार्वजनिक सरकारी स्कूल हैं। इनमें गरीब और मजदूर वर्ग के बच्चे को निशुल्क शिक्षा दी जाती है। लेकिन इन स्कूलों के लिए सरकार पैसे देने में देरी करती है और इसके शिक्षक अस्थायी हैं। उन्हें ठेके पर रखा

जाता है। अपने शोषण के खिलाफ 1 अप्रैल को शिकागो की शिक्षक यूनियन ने एक दिन की हड़ताल की। यह यूनियन शिकागो की सबसे बड़ी यूनियनों में से एक है जिसकी सदस्य संख्या 27,000 है। 11 मई को अमरीका के कनेक्टिकट में एक्सपीओ लोजिस्टिक कम्पनी की वार्षिक जनरल मीटिंग के समय इंटरनेशनल ट्रांसपोर्ट वर्कर फेडरेशन ने कम्पनी की कर्मचारी विरोधी नीतियों के खिलाफ प्रदर्शन किया।

फ्रांस में प्रस्तावित मजदूर विरोधी श्रम कानून के खिलाफ पिछले दो महीनों में मजदूरों और छात्रों ने 4 बार हड़ताल की। 31 मार्च को सुधारों के विरोध में रेल कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी, जिससे 200 स्कूलों को बन्द करना पड़ा। पेरिस, तौल्लैसे और अन्य जगहों पर प्रदर्शनकारियों ने पुलिस पर पथराव किया, इसके जवाब में पुलिस ने आंसू गैस के गोले दागे। यूनियनों के अनुसार प्रदर्शन में कुल 12 लाख कर्मचारियों ने हिस्सा लिया जो संख्या 9 मार्च के प्रदर्शन की दुगुनी है। लेकिन पुलिस के अनुसार प्रदर्शन में 3.8 लाख लोगों ने भाग लिया। पुलिस की गाड़ियाँ जलाये जाने के बाद 30 लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। एक ताजा सर्वे में पाया गया कि फ्रांस की 58 प्रतिशत जनता बजट कटौती के खिलाफ है। वह सुधारों का विरोध करती है। इन सुधारों के लागू होने के बाद कर्मचारियों को नौकरी से निकालना बहुत आसान हो जाएगा। फ्रांस में बेरोजगारी तेजी से बढ़ती जा रही है। 25 प्रतिशत फ्रांसिसी नौजवान बेरोजगार हैं। फ्रांस के इस आन्दोलन में अब तक 1000 से अधिक लोगों को गिरफ्तार किया जा चुका है जबकि 350 पुलिस अधिकारी घायल हो गये हैं। इस आन्दोलन के दौरान सैकड़ों हवाईजहाज की उड़ानें रद्द की जा चुकी हैं।

इस विवाद के बीच फ्रांस की समाजवादी पार्टी की होलंदे सरकार अपनी लोकप्रियता के सबसे निचले स्तर पर पहुँच गयी है। इस सरकार का मानना है कि देश की लड़खड़ाती अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए मजदूरों के वेतन और अधिकारों

में कटौती जरूरी है। यही तर्क दुनिया भर की सभी सरकारें देकर अपने देश के मजदूरों के अधिकारों में कटौती कर रही हैं और पूँजीपतियों की सहूलियतें बढ़ा रही हैं। वे चाहे चीन की कम्युनिस्ट सरकार हो, भारत के हिन्दुत्ववादी हों, फ्रांस के समाजवादी हों या अमरीका की पूँजीवादी-साम्राज्यवादी सरकार हो। अर्थव्यवस्था के मामले में सबने अपनी पहचान छोड़कर नवउदारवादी वृद्धिवाद का दामन थाम लिया है।

भारत में आये दिन किसी न किसी औद्योगिक क्षेत्र में मजदूर आन्दोलन होते हैं, लेकिन राष्ट्रीय मीडिया में इसे जगह नहीं दी जाती। 11 मई को हरियाणा पॉवर वितरण कम्पनी के 25,000 मजदूर हड़ताल पर चले गये। वे राज्य सरकार के उस निर्णय के खिलाफ हैं जिसमें सरकार ने रखरखाव के काम की आउटसोर्सिंग करने की बात कही है। 18 अप्रैल को अलग-अलग कपड़ा फैक्टरियों के 1.2 लाख मजदूरों ने बंगलौर की सड़क को जाम कर दिया। उन्होंने पीएफ कटौती के खिलाफ जुझारू आन्दोलन चलाया।

दुनियाभर में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ठहराव, संकट और मंदी की जकडबन्दी में फँसती चली जा रही है। इसी के साथ मजदूर आन्दोलन में जबरदस्त उभार दिखाई दे रहा है। लगभग सभी देशों में मजदूरों की गतिविधियाँ जोर पकड़ रही हैं। लेकिन देश विशेष की स्थानीय परिस्थिति, राजनीतिक व्यवस्था और अर्थव्यवस्था के हिसाब से अलग-अलग देशों के मजदूर आन्दोलनों की संख्या और उनके जुझारूपन में अन्तर है। हालाँकि अभी तक मजदूर आन्दोलन अपनी आर्थिक माँगों की सीमा को नहीं तोड़ पाया है, लेकिन आर्थिक आन्दोलनों में बढ़ोतरी स्पष्ट संकेत दे रही है कि व्यवस्था का आर्थिक संकट गहराने के चलते राजनीतिक संकट की ओर बढ़ रही है।

इस लेख में कुछ देशों की चुनिन्दा घटनाओं का जिक्र किया गया है। हालाँकि दुनिया के हर देश का मजदूर आन्दोलन उभार पर है लेकिन इस मामले में मीडिया

की भूमिका नकारात्मक है। भारत जैसे देश में मीडिया के लिए निरंकारी बाबा की अन्तिम यात्रा कवर पेज की खबर बनती है, लेकिन बंगलौर के कपड़ा उद्योग के एक लाख से अधिक मजदूरों का आन्दोलन उनके लिए कोई खबर नहीं है। हर देश के मीडिया की कमोबेश यही स्थिति है। खबरों का मनमाना चुनाव बेमतलब नहीं है। यह जनसंचार के माध्यमों पर नवउदारवाद की पहरेदारी का नतीजा है और निश्चय ही आगे भी यह पहरेदारी जारी रहेगी। प्रगतिशील ताकतें जो इतिहास निर्माण में जुटी हुई हैं, उनके लिए राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण है। न केवल जनता को, बल्कि उसके अगुआ तत्त्वों को भी उन खबरों से काट देना, जो इतिहास निर्माण में सहायक हैं, माडिया की सोची-समझी साजिश है। इस साजिश को नाकाम करना आज प्रगतिशील ताकतों का एक जरूरी काम है। दुनियाभर में मजदूरों के शोषण-दमन-उत्पीडन में वृद्धि और उसी अनुपात में मजदूर आन्दोलनों में उभार नये बदलावों की ओर संकेत दे रहा है।



;w; gh ges'kk my>rh jgh gS  
 tqYe ls [kYd  
 u mudh jLe u;h gS  
 u viuh jhr u;h  
 ;w; gh ges'kk f[kyk;s gSa  
 geus vkx esa Qwy  
 u mudh gkj u;h gS  
 u viuh thr u;hA  
 &QSt

## हरियाणा जाट आरक्षण आन्दोलन पर जन आयोग की रिपोर्ट

--सुरेन्द्र पाल सिंह

**फरवरी 2016** में जाट आरक्षण आन्दोलन के दौरान हुई हिंसा ने समाज को गहराई से प्रभावित किया। इससे चिन्तित न्यायप्रिय नागरिकों और संगठनों ने 5 मार्च 2016 को पानीपत में मिल बैठ कर राज्य में न्याय, सुरक्षा और शान्ति के लिए 'सद्भावना मंच' हरियाणा का गठन किया। बैठक में निर्णय लिया गया कि इन घटनाओं की निष्पक्ष जाँच के लिए एक 'जन आयोग' गठित किया जाय। समाज के विभिन्न पृष्ठभूमि के अनुभवी और सामाजिक चेतना से लैस 7 व्यक्तियों को मिलाकर 11 मार्च को एक 'जन आयोग' के गठन की घोषणा की गयी। इस आयोग के चेयरमैन विकास नारायण राय, आईपीएस, पूर्व डीजीपी हरियाणा, सदस्य (सचिव) डॉ. राजेन्द्र चौधरी, पूर्व प्रोफेसर, महर्षी दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक, सदस्य (सचिव) श्री राम मोहन राय, अधिवक्ता उच्चतम न्यायालय तथा 4 सदस्य-- टी के शर्मा, आईएएस (अवकाश प्राप्त), डॉ. मेहर सिंह संधु, आईएफएस मुख्य वन संरक्षक (अवकाशप्राप्त), केरल, शुभा, लेखिका, भूतपूर्व प्रिंसिपल, राजकीय महाविद्यालय और श्री राजीव गोदारा अधिवक्ता पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय नियुक्त किये गये। जन आयोग ने निम्न कार्यसूची के अनुसार अपना काम किया--

1. जाट आरक्षण आन्दोलन और हिंसा की पृष्ठभूमि
2. शासन और प्रशासन की भूमिका
3. अन्य व्यक्तियों, संगठनों और समूहों की भूमिका
4. हिंसा का स्वरूप और इसकी जिम्मेदारी
5. राहत और पुनर्वास के उपायों की समीक्षा
6. न्याय, सद्भावना, सुरक्षा एवं शान्ति के उपायों की समीक्षा
7. ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकने एवं शान्ति और सद्भाव बनाये रखने के लिए सुझाव।

जन आयोग द्वारा अपना कार्य शुरू करने से पहले सद्भावना मंच की ओर से अनेक कार्यकर्ताओं ने एक अभियान के अन्तर्गत राज्य के तमाम प्रभावित इलाकों का दौरा किया और 35 बनाम एक जाति के नाम से चल रही जहरीली मुहिम के खतरों से आगाह करते हुए हजारों पर्चे बाँटते हुए हर पक्ष से मिले। जन आयोग ने 8 दिन में राज्य के 8 जिलों में 25 जन सुनवाई बैठकें की जिनमें 181 गवाहों ने अपने बयान दर्ज करवाये और 303 दस्तावेज (वीडियो मिलाकर) जमा करवाये। आखिर 15 मई 2016 को रोहतक में अलग-अलग जिलों से आये व्यक्तियों की सभा हुई और मीडिया के सामने जन आयोग ने अपनी रिपोर्ट का लोकार्पण किया। रिपोर्ट के मुख्य बिन्दु हैं।

**जाट आरक्षण का ऐतिहासिक और कानूनी पक्ष :** राज्य में गुरनाम सिंह कमीशन द्वारा 30 दिसम्बर 1990 को दी गयी सिफारिश के अनुसार सरकार ने 5 फरवरी 1991 को 10 जातियों-- अहीर, बिश्नोई, मेव, गुज्जर, जाट, जट सिक्ख, रोड़, सैनी, त्यागी और राजपूत को पिछड़ी जाति घोषित करके दिनांक 5 अप्रैल 1991 को इन्हें आरक्षित श्रेणी में शामिल कर दिया था। इसके बाद विधान सभा चुनाव में सरकार बदल गयी और भजन लाल सरकार ने 12 सितम्बर 1991 को इन आदेशों को स्थगित करते हुए दूसरे पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन किया जिसकी सिफारिशों के अनुसार

पिछड़े वर्ग को 2 खण्डों में बाँट कर दिनांक 7 जून 1995 को केवल अहीर/यादव, मेव, गुज्जर, सैनी, और लोढ़/लोढ़ा को 11 प्रतिशत आरक्षण दे दिया गया। इसके बाद समय-समय पर जाटों को आरक्षण का लाभ देने की माँग उठती रही। आखिर भूपेंद्र सिंह हुड्डा सरकार द्वारा ने 8 अप्रैल 2011 को जस्टिस के सी गुप्ता कमीशन गठित किया जिसने महर्षी दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक के प्रोफेसर खजान सिंह सांगवान की शोध रिपोर्ट के आधार पर अपनी सिफारिश दी और हुड्डा सरकार ने उसी आधार पर 23 जनवरी 2013 को हरियाणा में विशेष पिछड़ा वर्ग के नाम पर 5 जातियों— जाट, जट सिक्ख, त्यागी, रोड़ और बिश्नोई को 10 प्रतिशत आरक्षण दे दिया। हाई कोर्ट ने 27 जुलाई 2015 को हरियाणा सरकार के उक्त निर्णय को उच्चतम न्यायालय के आदेश के आधार पर अन्तरिम आदेश देकर स्थगित कर दिया। इसके बाद विभिन्न जाट संगठनों व खाप पंचायतों ने आरक्षण की माँग पर लामबन्दी शुरू कर दी।

इस आन्दोलन के विरोध और समर्थन की आग में पूरा हरियाणा धधक उठा। जाट आरक्षण की माँग और इसका विरोध, दोनों मुख्य तौर पर शक्ति प्रदर्शन आधारित हो गये। वर्तमान में 27 प्रतिशत आरक्षण में शामिल जातियाँ, विशेष तौर पर पिछड़ा वर्ग खंड “ब” में शामिल कृषक पृष्ठभूमि की जातियों का विरोध अधिक मुखर था क्योंकि उन्हें लगा कि जाट आरक्षण से उनके रोजगार के अवसर प्रभावित होंगे। कॉंग्रेस, इनेलो और भाजपा तीनों में जातिगत आधार पर पार्टी के अन्दर से ही जाट आरक्षण आन्दोलन का समर्थन और विरोध होने लगा। जातिवादी विषयमन का काम तेजी पकड़ने लगा। एक ओर ओबीसी ब्रिगेड का गठन होने लगा तो दूसरी ओर जाट सेना, जाट बलिदानी जत्था, जाट महिला कमांडो का प्रशिक्षण होने लगा। अततः सांपला में 14 फरवरी 2016 को जाट स्वाभिमान रैली के साथ ही जाट आरक्षण एक नये दौर में प्रवेश कर गया। सड़कों और रेल जाम होने लगें और 18 फरवरी को रोहतक में हिंसा का सिलसिला शुरू होते-होते राज्य का एक बड़ा हिस्सा अराजकता और हिंसा का

गवाह बन गया जिसमें 31 जाने गयीं और कई हजार करोड़ की निजी/सरकारी सम्पत्ति का नुकसान हुआ।

**निष्कर्ष :** एक खूनी आन्दोलन के बाद हरियाणा में जाट आरक्षण बिल पास हो गया है और इसी बीच उसे अदालत में चुनौती भी दे दी गयी है। 14 से 23 फरवरी 2016 के बीच चला जाट आरक्षण आन्दोलन लोक मानस में नायको-प्रतिनायकों के निशान छोड़ गया है। यह दौर एक दिशाहीन आर्थिक परिदृश्य में राजनीतिक बिजलियों की मार्गदर्शक कौंध और कानून व्यवस्था की आश्वस्तकारी कड़क के नदारद रहने का गवाह बना जिसका खामियाजा हरियाणावासियों ने भुगता। असुरक्षा व अविश्वास की दिलो-दिमाग में घर कर गयी धारणा आसानी से नहीं जा पायेगी। इस संदर्भ में राजनीतिक बयानों, सामाजिक सरोकारों और कानूनी पैतरेबाजी से लगता नहीं कि राज्य के लिए अनिश्चितता का अध्याय बन्द हुआ हो। जन मानस में अपने सुरक्षित भविष्य को लेकर उमड़ती शंकाओं का भूत, हवन-यज्ञ या संकीर्ण हिंदुत्ववादी सद्भावना सम्मेलन से नहीं भागने वाला। इसके लिए नये सिरे से नीतिगत कवायद, ठोस प्रशासनिक उपाय, और विश्वनीय राजनीतिक-सामाजिक पहल की आवश्यकता है। आज की पुलिस न तो सत्ता निरपेक्ष रहने दी गयी है और न ही उसे नागरिक संवेदी बनाया गया है। आरक्षण आन्दोलन में जगह-जगह पुलिस के प्रति लोगों का अविश्वास हिंसक झड़पों के रूप में सामने आया। दरअसल आम जन को एक लोकतान्त्रिक पुलिस चाहिए जिसका नेतृत्व सक्षम और रणनीतिक हो। एक हिंसक आन्दोलन के कटु अनुभव के बाद भी सरकार द्वारा नफरत और हिंसा भड़काने वाले बयानों/ गतिविधियों का संज्ञान नहीं लिया जा रहा। उदाहरण के लिए रोहतक में आयोजित सदभाव-समरसता सम्मेलन में बेहद भड़काऊ बयान देने वाले स्वामी रामदेव पर तुरन्त एफआईआर दर्ज की जानी चाहिए थी।

राज्य की मनोहर लाल खट्टर सरकार द्वैध शासन पद्धति का शिकार रही है जिसकी वजह से प्रशासनिक तालमेल चट हो गया, प्रशासन में अनिश्चितता बढ़ी और संकट के दौर में पलायनवाद का शिकार हो गया। अक्टूबर

2014 में मुख्यमंत्री बनने से पहले, मनोहर लाल का संघ प्रचारक होना इस द्वैध शासन को बल प्रदान करता है। यही नहीं, एक लंबे अर्से से पुलिस विभाग के भीतर भी कमांड कंट्रोल की एक द्वैध पद्धति चल रही है। सीआईडी का मुखिया, मुख्य मंत्री के नजदीक होने की वजह से फिल्ड में तैनाती से लेकर कानून-व्यवस्था और अनुसंधान कार्य में भी दखलंदाजी करने लगता है जिससे उसका अपना आसूचना (इंटेलिजेंस) कार्य बेहद प्रभावित होता है और साथ ही डीजीपी के पुलिस नेतृत्व के नीतिगत और कार्यगत दोनों आयाम कमजोर हो जाते हैं। पारदर्शिता और जवाबदेही एक लोकतान्त्रिक प्रशासन के अनिवार्य मानक है जिनकी स्थापना के लिए ये द्वैध प्रणाली समाप्त की जानी चाहिए।

**जातीय पहचान :** हरियाणा में कई दशकों से सरकारों ने जातीय पहचान को उत्तरोत्तर बढ़-चढ़ कर मजबूत किया है। जाति आधारित प्रतीकों, संगठनों, संस्थाओं, धर्मशालाओं को सरकारी भूमि और अनुदान देना आम बात है। इनमें जातीय बैनर तले होने वाले समारोहों में मुख्य मंत्री, अन्य मंत्री, विधायकों, तमाम राजनीतिक दलों के वरिष्ठ नेताओं व प्रशासनिक अधिकारियों के भाग लेने से उन्हें वैधानिकता मिलती है। आरक्षण आन्दोलन स्वभाविक रूप से जातीय आधार पर संगठित होते हैं और किसी हिंसक गोलबन्दी के लिए सरकार द्वारा पोषित जातीय संगठनों/ संस्थाओं को मंच की तरह इस्तेमाल करते हैं। “35 बिरादरी बनाम एक” और “जाट बलवान” जैसे जहरीले नारों को खाद-पानी इन्हीं मंचों से मिलता है। इसके बरक्स गौर कीजिये कि शिक्षा के द्वार खोलने वाले क्रान्तिदूत फुले दम्पति ने मौर्या, कुशवाहा, कुनबी या सैनी स्कूल नहीं खोले थे। इसी परम्परा में सरकार को कानून बना कर जातीय मंचों का पोषण बन्द कर देना चाहिए और भौगोलिक, सांस्कृतिक, लैंगिक, खेल मंचों व प्रेरक बलिदानी नायकत्व को बढ़ावा देना चाहिए।

**स्त्री आरक्षण :** हरियाणा को कन्या भ्रूण हत्या, शिक्षा/स्वास्थ्य में स्त्रियों का दोगम दर्जा, इज्जत के नाम पर हत्या, घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न और बिगड़ते लिंग अनुपात के

लिए यूँ ही नहीं जाना जाता। बाजार और पुनरुत्थानवादी शक्तियों की मार झेलती स्त्रियों के लिए आरक्षण की प्रणाली उनके सशक्तिकरण के लिए एक उत्प्रेरक रणनीति बन सकती है। आरक्षण का लाभ आरक्षित समुदायों की स्त्रियों को भी मिले, जिसके लिए जरूरी है कि आरक्षित कोटे का 33 प्रतिशत स्त्रियों के लिए आरक्षित किया जाय।

**जनता से माफी माँगे सरकार :** आन्दोलन का कड़वा सच यह भी है कि “कानून का शासन” स्वयं कानून के पहरोओं ने क्षरित होने दिया। माल-असबाब से भरे हुए हजारों ट्रक राजमार्गों व अन्य सड़कों पर दिनों-हफ्तों आन्दोलन में फँसे खड़े रहे और इस दौरान लाखों यात्रियों को आवागमन के संवैधानिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ा। दरअसल, कुछ स्थानों को छोड़ कर प्रशासन द्वारा निश्चयात्मक कार्यवाही करके रास्ते खुलवाये जा सकते थे और आन्दोलन को बाद में व्यापक रूप से हिंसक होने से रोक जा सकता था। शहरों/कस्बों के भीतर जाम लगाने देने से आन्दोलनकारियों, उनके विरोधियों, सुरक्षा बलों के बीच तनावों और हिंसक झड़पों की जमीन तैयार हुई। समूचे हरियाणावासियों ने इन रणनीतिक/नियोजित चूकों का खामियाजा भुगता है, जिसके लिए मनोहर लाल खट्टर सरकार को बिना शर्त राज्य की जनता से माफी माँगनी चाहिए।

**क्षतिपूर्ति में असफल :** जो राजनीति और नौकरशाही उपद्रव के समय दृढ़ता नहीं दिखा सकी, अब वह मुआवजे को लेकर उदारता नहीं दिखा रही है। पीड़ितों के मुआवजा के दावों को प्रथमदृष्टया सही मान कर अविलम्ब भुगतान होना चाहिए था जब तक कि दावे को अकाट्य भौतिक साक्ष्य के आधार पर ठुकराने का आधार न हो।

**संवैधानिक सद्भावना के लिए विवेकशील मंच :** हिंसक आरक्षण आन्दोलन दौर की हरियाणवी समाज की एक त्रासदी यह रही है कि हर व्यक्ति को हिंसा/आतंक में बाँट दिये गये दो समूहों में से एक को चुनने पर मजबूर होने की नियति से दो-चार होना पड़ा। ऐसे में सविधान से प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों और प्रगतिशील सामाजिक कार्यकर्ताओं को आगे

आना होगा।

**मृतकों-घायलों के परिवारों को क्षतिपूर्ति :** एक अति विभाजक माहौल में सैन्यबलों के हाथों मारे गये या घायल हुए आन्दोलनकारियों के दर्जे को लेकर दावे-प्रतिदावे बेहद भावुक स्तर पर ले जाये गये हैं। आरक्षण समर्थकों के लिए वे शहीद हैं जबकि हिंसा पीड़ितों के लिए अपराधी। इन मामलों में जहाँ कानून को अपना काम करना चाहिए, वहीं यह नहीं भूलना चाहिए कि इनमें से अधिकांश युवा एक भ्रामक उन्मादपूर्ण स्थिति का शिकार बने। मानवीय आधार पर इस दौरान मारे गए सभी व्यक्तियों को क्षतिपूर्ति का भागीदार माना जाय, जब तक कि उनके विरुद्ध गंभीर हिंसा में सीधे-सीधे लिप्त होने के अकाट्य सबूत न हों।

**सेना का अन्धाधुन्ध इस्तेमाल :** हिंसा शुरू होते ही घबरायी हुई हरियाणा सरकार ने सेना को एक पूर्णतया सिविल परिदृश्य में आमंत्रित कर लिया। इससे पहले केन्द्र सरकार के गृह मंत्री ने केन्द्रीय सशस्त्र बलों को राज्य में झोंक दिया। ये आत्मघाती कदम सिद्ध हुए क्योंकि उनका मुकाबला आतंकवादियों से नहीं, बल्कि देश के बेरोजगार नौजवानों से था। ऐसे में स्वचालित हथियारों से लैस सैनिक/जवान या तो चुपचाप उपद्रव होता देखते हुए अपनी किरकिरी करवाते या आन्दोलनकारियों पर गोलियों की बौछार कर अनुपात से कई गुणा बल प्रयोग करने का आरोप झेलते। अन्त में दोनों तरीके की तोहमत उनके हिस्से आयी। सरकार और पुलिस नेतृत्व को अपना जातिवादी चश्मा उतार कर एक पेशेवर, सत्ता निरपेक्ष और संवेदी पुलिस निर्माण की दिशा में ठोस कदम उठाने होंगे।

**आरक्षण की संवैधानिक प्रणाली :** सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के समय-समय पर मामले में संज्ञान लेने के बावजूद जिस पैमाने पर हिंसा और आगजनी ने राज्य में अपने पाँव पसारे, उसकी तुलना प्रायः 1947 के विभाजन काल से की गयी। आरक्षण आन्दोलन को हालाँकि जाति वैमनस्य या जाति संघर्ष की गोलबन्दी (मसलन 35 विरादरी बनाम एक) के रूप में पेश किया गया, पर असल में इसका चरित्र राजनितिक ही रहा। हाँ, इसे बैठे-बिठाये जातीय मंच और जातीय गोलबन्दियाँ

स्वार्थ साधन के लिए अवश्य मिल गयीं। भविष्य के लिए भी इस परिघटना को आर्थिक मुद्दों, सामाजिक अनुक्रिया, राजनीतिक समाधान और कानून व्यवस्था की रणनीति के दायरों में देखना श्रेयस्कर होगा।

**सिवाह गाँव का मॉडल :** राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित इस बड़े गाँव ने एक स्वर में वहाँ बैठे हजारों आन्दोलनकारियों को दस किलोमीटर दूर पानीपत शहर पर धावा बोलने से रोक दिया था। सिवाह गाँव के सामाजिक आर्थिक सन्दर्भ में इस परिघटना का अध्ययन निश्चित रूप से ऐसे तनावों से निपटने में अनेकों पूर्वोपाय इंगित कर पायेगा।

**कृषि/रोजगार संकट :** व्यापक हिंसक आरक्षण आन्दोलन ने एक बार फिर कृषि संकट, रोजगार संकट और ग्रामीण क्षेत्र में कौशल व उद्यमिता के अभाव को शिद्दत से रेखांकित किया है। भीषण बेरोजगारी के चलते आज सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग जाट और पटेल जैसे पारम्परिक रूप से खाते-पीते और राजनैतिक रूप से प्रभावशाली ग्रामीण समुदायों के एक बड़े भाग के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बना दी गयी है। ये वे तबके हैं जो नवउदारवादी आर्थिक दौड़ में पिछड़ते चले गये हैं क्योंकि खेती घाटे का सौदा बनती गयी। वे निजी क्षेत्र के बेहद प्रतिस्पर्धात्मक अपरिचित माहौल में भी खप नहीं पाये हैं। वर्तमान कृषि संकट से पहले भी ग्रामीण इलाकों में तुलनात्मक रूप से ज्यादा गरीबी रही है, लेकिन उन दिनों आज जैसी बेरोजगारी नहीं थी। अपेक्षाकृत विकसित हरियाणा और गुजरात में राज्यव्यापी आरक्षण हिंसा सरकार के “कौशल इंडिया” और “मुद्रा बैंक” जैसे व्यक्तिगत कौशल आधारित रोजगार मॉडल की अपर्याप्तता की ओर भी संकेत है। कृषि कर्मा की न्यूनतम आय की गारंटी को प्रोत्साहन और कृषि उपभोक्ता को आर्थिक सहायता के साथ-साथ ग्रामीण क्षेत्रों में मनरेगा के विस्तार और परस्पर कौशल पर आधारित रोजगारपरक मॉडल लाये जाने की नितान्त आवश्यकता है।



# जात-पात की आहुति दे के कटू रहण का समय है

-अनुराधा बेनीवाल

**रोहतक में हुए सदभावना कार्यक्रम में रामदेव ने दस लाख मुड़ी काटने जैसी दुर्भावनापूर्ण बातें कहके उस कार्यक्रम की हकीकत बयान कर दी थी... उसी मंच से अनुराधा बेनीवाल (बहुचर्चित यात्रा-वृत्तान्त 'आजादी मेरा ब्राण्ड' की लेखिका) की बात सुनकर मंच पर बैठे सदभावना के ठेकेदारों को पसीना आ गया। घबराहट में बारी-बारी से कई लोगों ने कई बार उनको रोकने का प्रयास भी किया लेकिन वे भी एक जिद्दी हरियाणवी की तरह अपना भाषण पूरा करके ही मानी। प्रस्तुत है उनका पूरा भाषण--स.**

“हमारे प्रदेश में हिंसा हुई है, दंगे हुए हैं। पहले हम सब ये स्वीकार करें कि नुकसान हुआ है। कितना कम-ज्यादा इसका आंकलन लोग करते रहेंगे। लेकिन यह मान लें कि नुकसान हुआ है। नुकसान करने बाहर से लोग नहीं आये थे। मराठी आ के, बांग्लादेशी आ के, मंगल ग्रह से आ के किसी ने हमारी दुकानें नहीं फूँकी, हमारे स्कूल नहीं जलाये! हमी थे नुकसान करने वाले, और हमी हैं नुकसान सहने वाले।

हमें यह भी जानना चाहिए कि कोई हिंसा यूँ ही नहीं भड़क जाती। इसके लिए बारूद लगता है, जिस पे हम हमेशा बैठे रहते हैं, बस एक चिंगारी की जरूरत होती है। यूँ ही कोई किसी की दुकान जलाने नहीं निकल पड़ता। यूँ ही कोई स्कूल नहीं फूँक देता। राह खड़ी गाड़ियाँ नहीं जला देता। यूँ ही कोई अमानव नहीं हो जाता। इसके पीछे की पृष्ठभूमि समझने की जरूरत है। हमें खुद से, समाज से, सरकार से सवाल करने की जरूरत है। इस बारूद को खत्म करने की जरूरत है।

कैसे हम इतनी नफरत से भर जाते हैं? के पड़ोसी-पड़ोसी का दुश्मन हो जाता है। एक सेकंड के लिए जात को भूल जायें, तो सोचें हमने अपने दोस्तों, पड़ोसियों, भाइयों, यारों के घर जलाये हैं। दुकानें जलायी हैं। हमने अपना ही नुकसान किया है। कहाँ पल रही है ये नफरत? कौन पाल रहा है इस नफरत को? इस नफरत को पाल के किसे फायदा है? ये सवाल आज हमें उस

हवन/यज्ञ में पूछने हैं। संस्कृत में ना समझ में आने वाले मन्त्र नहीं रटने, सीधे-साफ सवाल हमें करने हैं।

और हमें सही सवाल करने हैं।

सवाल ये नहीं होना चाहिए, कि इसे नौकरी क्यों मिली मुझे क्यों नहीं? सवाल अब ये होना चाहिए कि हम दोनों को नौकरी क्यों नहीं मिल रही? हमारे घर में सब के पास नौकरियाँ क्यों ना हों? सबके पास काम क्यों ना हो? सब इज्जत की रोटी क्यों ना खा सकें? सबके पास बेसिक साधन क्यों न हों? सवाल मिल के करने हैं। एक जाति को नहीं हर जाति को करने हैं! हम सब साथ मिल के सवाल करेंगे तो जवाब देना पड़ेगा! ये जरूरी सवाल हैं, मुश्किल सवाल हैं। लेकिन साथ में पूछेंगे तो जवाब देना पड़ेगा। हमारी आवाज कोई दबा नहीं पायेगा। न्यारे हो के पूछेंगे, एक-दूसरे से लड़-झगड़ के पूछेंगे तो हमारे सवालों को दबाना आसान होगा। और वो यही चाहते हैं कि हमारे जरूरी सवाल दबते रहें, हम आपस में लड़ते-भिड़ते रहें। और वे अपनी रोटियाँ सेकते रहें।

सवाल नम्बर एक-- दंगे क्यों भड़के? क्या कारण था? प्रशासन इस बात का जवाब दे। किसी राज्य में जब इस स्तर पर दंगे होते हैं, जान-माल का नुकसान होता है, तब सरकारी प्रशासन जिम्मेदार होता है। हमेशा! वे अपना पल्ला किसी जाती विशेष को दोष दे कर नहीं झाड़ सकता। (इस तरह तो रोज दंगे होंगे और हम देखते

रह जायेंगे) प्रशासन के पास पुलिस फोर्स होती है, बैरिकेड होते हैं, वाटर केनन, टियर गैस, माइक्रो-फोन, सैकड़ों प्रबंध होते हैं। इस पैमाने पर दंगा कैसे फैला? क्या फैलवाया गया? दंगे में फायदा किसका था?

पहले सवाल से दूसरा सवाल निकलता है।

सवाल नम्बर दो-- प्रशासन ने क्या किया दंगे रोकने के लिए? क्या सेना बुलाना आखरी उपाय था? पॉइंट ब्लैंक पर जवान मौतें हुईं। क्या इसे रोका नहीं जा सकता था? कहाँ हैं वे हमारे नेता, तथाकथित नेता, जिन्हें जनता के लिए जनता ने वोट दिया था, वे क्यों अपनी जनता के साथ नहीं है?

सब नेता कहाँ थे, जब आग लगने लगी? जब लोग घरों से निकल कर बर्बादी करने निकल पड़े? किसी सांसद, किसी विधायक, किसी सरपंच जी ने उनको रोका क्या? आखिर समाज अपने बीच नेता क्यों चुनता है? सही राह दिखाने के लिए या गलत राह पे मोड़ने के लिए? असल मौके पर समझदारी देने के लिए या अपने घरों में दुबक कर तमाशा देखने के लिए? सिर्फ नफरत की गन्दी आग को भड़काने वाले नेताओं के अलावा सब कहाँ गये थे? और जिन्होंने निगेटिव रोल प्ले किया, और जिन्होंने कोई रोल ही नहीं प्ले किया, उनके ऊपर आगे कैसी कार्रवाई होगी?

सवाल नम्बर तीन-- अब अहम सवाल। बारूद को पैदा करने वाले कारणों पर सवाल।

कॉलेजों में स्कूलों में टीचर्स नहीं हैं, लेकिन वेकेन्सी भी नहीं हैं! लोग बाहर एमए बीएड पास करके बेरोजगार फिर रहे हैं, और बच्चे बिना टीचर के परेशान हैं। ये कॉन्ट्रैक्ट-टीचर का क्या घपला है? पक्की नौकरियाँ क्यों नहीं मिल रही?

सवाल नम्बर चार-- प्राइवेट सेक्टर और सरकारी सेक्टर की नौकरियों में दिन रात का अंतर क्यों है? एक पीयन की, चपड़ासी की सरकारी नौकरी पाने के लिए लोग लाइन लगा के खड़े हैं, प्राइवेट सेक्टर में कोई स्कूल में टीचर नहीं लगना चाहता! ये क्या माजरा है?

मैं लंदन में रहती हूँ तो देखती हूँ कि सरकारी नौकरी पाने की कोई होड़ नहीं है, बल्कि ऐसे ऐसे लोग बहुत हैं जो सरकारी नौकरी छोड़ के प्राइवेट सेक्टर में टीचर लगते हैं। क्योंकि वहाँ प्राइवेट और सरकारी दोनों में तन्खाह सेम है, बेनिफिट सेम हैं।

हमारे गाँव में प्राइवेट स्कूल में टीचर की तनखाह तीन हजार है! तीन हजार रुपये महीना! फॉर एन एम इन इंग्लिश! इज ईट ए जोक!! स्कूल खोल-खोल के लोगों ने कोठी बना ली, निरी पूँजी जोड़ ली, लेकिन वहाँ काम करने वाले अपने गुजारे तक के पैसे नहीं कमा रहे! यही हाल प्राइवेट फैक्ट्रीज, मॉल, कम्पनियों का है। काम करने वाले को तीन से आठ हजार रुपये पर और कम्पनी मालिक बन गये लखपति! इस घोर पूँजीवाद पर हमें सवाल करने हैं!

सवाल में कई सवाल हैं। हमारी प्राइवेट सेक्टर में न्यूनतम वेतन क्या है? क्या उस पे कोई रेगुलेशन है? प्राइवेट और सरकारी का अंतर कम क्यों नहीं होना चाहिए?

सवाल नम्बर पाँच-- हर साल वोट बैंक की राजनीति कर के हम किसी जाति को कुछ तो किसी जाति को कुछ और लालच देते हैं। कभी कुछ गिफ्ट देते हैं, तो कभी कुछ साधन देते हैं। क्या ये गिफ्ट्स उनको सच में ऊपर उठाने के लिए दिये जाते हैं या सिर्फ अंधी राजनीति है? गरीब आदमी हर जाति में है। गरीब जिसके पास रिजर्वेशन नहीं है, वह ये देख के कुढ़ता है। नफरत पनपती है। बारूद बनती है। क्या

जात-पात को खत्म करने के लिए कुछ किया जा रहा है या सिर्फ इसे बचाये रखना है, क्योंकि इलेक्शन हर पाँच साल में होता है और बिना जात-पात के फिक्स्ड वोट कहाँ?

सवाल नम्बर छः-- हर जाति में गरीब हैं। किसान पिछड़ी जाती ना होते हुए भी सुसाइड कर रहे हैं। इनके लिए विकल्प क्या हैं? इनके लिए क्या मौके हैं?

सवाल नम्बर सात-- हमारी पढ़ाई, कॉलेजों का इतना धुम्मा क्यों उठा हुआ है? इतनी फर्जी क्यों पढ़ाई हो गयी कि एमए/एमबीए करे जवान चपड़ासी की एप्लीकेशन भरते हांडे सै? घूम फिर के बात आती है फिर सवाल तीन पर। टीचर्स क्यों नहीं हैं?

ये सवाल सब सरकारों से हैं। इस से या उससे नहीं। सब कुर्सी वालों से हैं।

सवाल ही सवाल हैं और जवाब में हमें सिर्फ सुनाई देता है, “भारत माता की जय!” किसानों की बात करो तो “फौजियों की जय!” फौजियों की बात करो तो, “किसानों की जय!”

इस कोरी जय से क्या मिलेगा! कैसे बोल दें जय! जब है ही नहीं जय! न वीरू है, न ही है जय, रह गयी है खाली माँ!

जो नेता जनता को सही दिशा में बढ़ने की बुद्धि न दे, वह नेता नहीं है। बाकी चाहे जो कुछ हो! नेता की कथनी और करनी एक जैसी होनी चाहिए। बोलतु संत नहीं, असल का संत चाहिए। लेकिन इनको जब हम वोट देते हैं, इनकी सरपरस्ती कबूल करते हैं, तब हम क्या इस बारे में सोचते हैं? नहीं सोचते हैं! तब हम जाति देखते हैं! धर्म देखते हैं! और तब हमारे आदरणीय साधु संत, जो अब हवन करायेंगे, ये लोग तब सही मनुष्य को चुनने का ज्ञान नहीं देते। बल्कि ऐसे भी संत हैं कुछ, जो जब वोट दिलवाने निकलते हैं, तब कुछ और बोलते हैं, चुनाव जीत कर कुछ और बोलते हैं। संतो को तो कम से कम नेताओं की भाषा नहीं बोलनी चाहिए! उनको तो मानवता की, समाज के हित की बात सिर्फ करनी चाहिए।

जब आग लगायी जा रही थी, तब कौन हमारे साधु संत घर या दुकान के आगे लेट गये, कि पहले मुझे जलाओ, अपनी मनुष्यता को जलाओ, तब दुकान या स्कूल जलाना? कौन से बाबा जी, माता जी, पानी लेकर दौड़े थे आग बुझाने? मैं अभी उन संत लोगों के पाँव छू लूँ, कोई जरा नाम बताओ!

ये बोलते, तो कैसे कोई न रुकता! हम तो बड़े धार्मिक लोग हैं!

अब हवन-यज्ञ से क्या हासिल होगा? लकड़ी जलेगी, जो पहले ही काफी कम है। लेकिन शान्ति आती हो तो पूरा जंगल जला दूँ! लेकिन क्या छत्तीस, छप्पन जातियों या सभी बिरादरी धर्म के भाई-बहनों के मन में जो एक दूसरे के लिए नफरत है, ईर्ष्या है, दुर्विचार हैं, क्रोध है, द्वेष है, वे सब क्या उस हवन में स्वाहा हो जायेंगे? या उसके लिए कुछ और करना होगा? ये सोचने की बात है?

जाते-जाते आखिरी सवाल खुद से, अपने लोगों से। ये नेता, साधु-संत, तो ले रे हैं सुवाद, इनका नहीं बिगड़ता किम्मे! पर क्या हमें नहीं दिखता के तोड़-फोड़, लूट-पाट, आग लगाने में तो किस का फायदा नहीं सै! सरकार तै तो मिलके सवाल करेंगे ही, अपने आप से भी करेंगे। इक्ठे चलने में फायदा है, या अकेले में? हम कब मजबूत होंगे? कब हमारे सवालियों को जवाब मिलेंगे?

तब, जब हम सिर्फ अपनी नहीं अपने पड़ोसी की नौकरी के लिए भी आवाज उठायेंगे। जब वो हमारे लिए आवाज उठायेगा। तो यही है सद्भावना। यही है अपील। यही है हवन और यही है कुंड। जात-पात की आहुति देके, कट्टे रहन का समय आया है। दुनिया मंगल पे बसन नै हो री है, अर हम रिजर्वेशन की लाइन में लाग रे हाँ! आज हाम लाग रे हाँ, काल कोई और लठ ठावेगा। आज या नफरत, लड़ाई, बैर की बली देनी है! जब्बे गुजारा है, जब्बे विकास है, जब्बे हरियाणा है, जब्बे दूध दही का खाणा है!”





## 29 हजार करोड़ का कोयला खरीद घोटाला

“भ्रष्टाचार मुक्त भारत” के नाम से सत्ता में आये देश के नये रहनुमा भी भ्रष्टाचार के जहरीले पेड़ को बढ़ने से रोकने में असफल रहे। वायदे सिर्फ हवा में लटके रह गये। वित्त मंत्रालय के तहत काम करने वाली डायरेक्टरेट ऑफ रेवेन्यू इंटेलेजेन्स (डीआरआई) ने आयातित कोयला कीमतों में अवैध बढ़ोत्तरी से किये गये 29 हजार करोड़ के घोटाले का पर्दाफाश किया था। डीआरआई पर भी आरोप था कि उसने घोटाले की रकम को बहुत कम करके बताया था। घोटाले में सत्ताधारी पार्टी की चहेती कम्पनियों के फँसे होने के चलते मुख्यधारा के मीडिया ने इस पर चुप्पी साधे रखी। इस घोटाले में अडानी ग्रुप की 5 कम्पनियाँ, अनिल अम्बानी की 2, रुइया परिवार के एस्सार ग्रुप की 2, सज्जन जिन्दल की 1 तथा एम वैकटरमैया और एस प्रभाकर राव के एनएसएल ग्रुप की 5 कम्पनियों समेत चालीस से ज्यादा कम्पनियाँ लिप्त पायी गयी हैं। इस मामले में सीबीआई, बैंक ऑफ बडौदा के दो अधिकारियों एस के गर्ग और जयनेश दूबे को पिछले साल गिरफ्तार भी कर चुकी है।

यह घोटाला इन भारतीय कम्पनियों और दलालों के तौर पर काम करने वाली मध्यस्थ कम्पनियों के बीच आपसी साँठ-गाँठ से सम्पन्न हुआ। निजी कम्पनियों का घोटाले में शामिल होना कोई नयी बात नहीं है। 2 जी स्पेक्ट्रम घोटाला, कोल ब्लॉक घोटाला और राडिया टेप खुलासा निजी कम्पनियों की कारस्तानी थी। सरकारें उनसे मिलीभगत करके उन्हें बचा लेती हैं और उम्मीद है कि नये घोटालेबाजों को भी बचा लिया जायेगा।

भारत में कोयले का सबसे अधिक इस्तेमाल बिजली निर्माण के लिए पाँवर प्लान्टों में ईंधन के रूप में होता है कोयला विदेशों से मँगाया जाता है जबकि हमारे यहाँ कोयले की खानों की कमी नहीं है, लेकिन निजी कम्पनियों का कहना है कि हमारे यहाँ के कोयले की जलने की क्षमता कम है, उससे कम ऊर्जा ही निकल पाती है। इसीलिए वे आसानी से सरकार पर दवाब बनाते हैं कि कोयले की

आपूर्ति दूसरे देशों से पूरी की जाये। विशेषज्ञों का मानना है कि दूसरे देशों के कोयले और भारत के कोयले की गुणवत्ता में ज्यादा अन्तर नहीं है, जबकि दोनों के मूल्यों में भारी अन्तर है। दरअसल बाहर का कोयला निजी कम्पनियों को कमाई के ऊपर मिलने वाली मलाई है।

भारतीय निजी और सार्वजनिक कम्पनियों के पाँवर प्लान्टों के लिए इंडोनेशिया की कम्पनियों से कोयला आता है। भारतीय कम्पनियाँ सीधे तौर से इंडोनेशिया से कोयला न खरीदकर दूसरी मध्यस्त कम्पनियों के द्वारा कोयला खरीदती हैं। मध्यस्त कम्पनियाँ इंडोनेशिया की कम्पनियों से सस्ती दर पर कोयला खरीद लेती हैं और उसे ऊँचे दाम पर भारतीय कम्पनियों को बेच देती हैं। भुगतान के इसी अन्तर से दोनों तरह की कम्पनियाँ मुनाफा कमाती हैं। हमारी सरकार इन कम्पनियों को सब्सिडी के नाम पर भारी छूट भी देती है। इस तरह इनके मुनाफे का दूसरा रास्ता भी खुल गया है जो जनता की जेब से होते हुए सीधे पूँजीपतियों की तिजोरी में जाता है।

डीआरआई ने महाराष्ट्र, दिल्ली, गुजरात, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, ओडिशा, पश्चिम बंगाल और केरल में 80 से अधिक शिपिंग कम्पनियों पर कोयले के वास्तविक मूल्य की जाँच-पड़ताल करने के लिए निरीक्षण शुरू किया था। वहाँ उन्होंने कोयले की कैलोरी क्षमता की जाँच-पड़ताल की, जिससे उसके गुण और वास्तविक मूल्य का पता लगाया जा सके। जब किये गये दस्तावेजों से आयातित कोयले के वास्तविक मूल्य के बारे में मिली जानकारी जाँच कमेटी को परेशान कर देने वाली थी। तमाम कम्पनियों के दस्तावेजों से पता चलता है कि कम्पनियों द्वारा कोयले का मूल्य वास्तविक मूल्य के दोगुने से भी अधिक दिखाया गया है। इसके कारण केवल तीन साल के अन्दर वर्ष 2011-2014 तक 29,000 करोड़ रुपये का घोटाला किया गया। जाँच के बाद डीआरआई का कहना है कि अगर भारतीय कम्पनियाँ कोयले का वास्तविक मूल्य दर्शाती तो एक यूनिट बिजली का खर्च 1 रुपये से भी कम आता। जाँच एजेंसी ने केवल 3 साल का

आँकड़ा जुटाया है जिसके आधार पर बिजली बनाने वाली निजी कम्पनियों ने इंडोनेशिया से खरीदे गये मूल्य को अधिक दिखाकर 29,000 करोड़ रुपये की अतिरिक्त कमाई की। मौजूदा सरकार इन घोटालेबाज कम्पनियों को ही भारत भाग्य विधाता मानकर टैक्स में छूट दे रही है, सस्ती दर पर जमीन मुहैया कर रही है। कागजी तौर पर घाटा दिखाने पर उन्हें उबारने तक में मदद करती है। कम्पनियों के प्रोत्साहन के नाम पर उन्हें भारी-भरकम राहत पैकेज दिये जा रहे हैं और समय-समय पर कर्ज भी माफ कर दिये जाते हैं। दूसरी तरफ हमारे किसान साहूकारों, धन्नासेठों के भारी कर्ज के चलते आत्महत्या करने पर मजबूर हैं, फिर भी उन्हें कोई राहत पैकेज देना तो दूर की बात, उनकी मेहनत की फसल का वाजिब दाम भी उन्हें नहीं दिया जा रहा है। आखिर देश क्या केवल पूँजीपतियों का है?

केन्द्र सरकार ने भ्रष्टाचार को खत्म करने के लिए भ्रष्टाचार का खुलासा करने वाली कई जाँच एजेंसियों पर रोक लगा दी जिससे वे भ्रष्टाचार को पकड़ ही न सकें। यह तो कुछ इस तरह हुआ जैसे गरीबी को खत्म करना है तो गरीबी के बारे में बात करना बंद कर दो। यानी मुन्हू आँख कतहू कुछ नहीं। जब निजी कम्पनियों से राजनीतिक पार्टियों को फण्ड मिलता हो तो ये पार्टियाँ इन कम्पनियों के कुकर्मों पर पर्दा क्यों नहीं डालेंगी। कहावत है, “जिसका खायेगा, उसका गायेगा।” सवाल यह है कि क्या सरकार इस घोटाले की गम्भीरता से जाँच करवायेगी, क्योंकि घोटाले में अधिकांशतः वे कम्पनियाँ शामिल हैं, जिनके मालिकों पर केन्द्र सरकार की विशेष कृपा है। गौरतलब है कि संसद में पूछे गये इस घोटाले में सम्बन्धित सवाल का ऊर्जा मंत्री पियूष गोयल ने अधूरा जवाब दिया और कम्पनियों तथा उनके मालिकों के नाम बताने पर चुप्पी साध ली। इसी से अन्दाजा लग जाता है कि जाँच का नतीजा क्या होगा।

—ललित कुमार

## 20,000 करोड़ रुपये का गैस घोटाला

जापानी निवेशकों के सामने भाषण देते हुए प्रधानमंत्री मोदी ने कहा था कि “पैसा और वाणिज्य मेरे खून में है।” अपनी अन्य तमाम घोषणाओं से इतर प्रधानमंत्री मोदी द्वारा अपनी इस गुण को चरितार्थ करने का मामला सामने आया है। 2005 में जब मोदी गुजरात के मुख्यमंत्री हुआ करते थे तो उन्होंने अचानक घोषणा की कि गुजरात स्टेट पावर कॉरपोरेशन (जीएसपीसी) ने कृष्णा गोदावरी बेसिन (केजी बेसिन) में 20,000,000,000,000 घन फीट (20 ट्रिलियन घन फीट) गैस खोज निकाली है। इससे राज्य को 2.2 लाख करोड़ रुपये की आय होगी। मोदी का यह दावा राज्य और केन्द्र के सभी विशेषज्ञों के लिए चौंकाने वाला था। अगर तत्कालीन मुख्यमंत्री मोदी के इस दावे को सही माना जाय तो यह खोज देश को गैस के मामले में आत्मनिर्भर बनाने के लिए पर्याप्त थी। लेकिन मोदी के अन्य हवा-हवाई और फर्जी दावों की

तरह यह खोज भी कोरी स्टंटबाजी ही निकली और इसके साथ ही 20,000 करोड़ रुपये को घोटाला भी सामने आया। मोदी की इस घोषणा के चार साल बाद जीएसपीसी ने अपनी फील्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट में बताया कि जितनी गैस का दावा किया गया था क्षेत्र में उसके दस प्रतिशत से भी कम गैस पायी गयी है जिसे खुदाई करके निकालना व्यवसायिक रूप से लाभकारी नहीं होगा। लेकिन फील्ड रिपोर्ट को नजरंदाज करते हुए मोदी ने जीएसपीसी को इस परियोजना पर आगे बढ़ने का दबाव बनाया। जीएसपीसी ने इस योजना को आगे बढ़ाने के लिए 15 सरकारी और निजी बैंकों से 20,000 करोड़ रुपये उधार लिये। लेकिन मई 2016 तक भी इस अति-बड़बोली परियोजना को व्यवसायिक रूप से शुरू नहीं किया जा सका। जीएसपीसी की सालाना रिपोर्ट बताती है कि 2005 के बाद से उसके गैस क्षेत्र में निरन्तर गिरावाट आयी है।

जीएसपीसी की योजना को आगे बढ़ाने के दबाव के साथ ही प्रधानमंत्री मोदी ने गैस निकालने के लिए खुदाई के लिए जीओ ग्लोबल कम्पनी को साझेदार बनाने का दबाव बनाया। खबरों के मुताबिक समझौते से छह दिन पहले ही यह कम्पनी बनायी गयी थी और इसके पास महज 3,200 रुपये की पूँजी थी जो समझौते के हफ्ते भर बाद ही बढ़कर 10,000 करोड़ रुपये हो गयी। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार केजी बेसिन के इस गैस क्षेत्र से कोई गैस नहीं निकली और 20,000 करोड़ रुपये खर्च भी हो गये। ये ऐसा खर्च है जिसका सरकार के पास कोई हिसाब नहीं।

आकर्षक नामकरण वाली अपनी परियोजनाओं के लिए मशहूर प्रधानमंत्री मोदी “जन धन” को कैसे निजी मुनाफाखोरों के सौंपते हैं ये घोटाला इसकी एक मिसाल भर है।



## डॉ. आंबेडकर के साथ कानून मंत्री के रूप में भी छुआछूत होती थी

मैं 1983 में आईपीएस का सीनियर कोर्स करने के लिए राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद गया था। वहीं पर हम लोगों का कुछ दिन का प्रशिक्षण एनआईआरडी (नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ रूरल डेवलपमेंट) में भी था। वहाँ पर मेरी भेंट प्रो. माथुर से हुई जो कोलम्बिया विश्वविद्यालय के विद्यार्थी रहे थे, जहाँ से डॉ. आंबेडकर ने शिक्षा प्राप्त की थी। बातचीत के दौरान उन्होंने मुझे बताया कि एक बार हम लोगों ने कोलम्बिया एलुमिनी का प्रीतिभोज दिल्ली में आयोजित किया था जिसमें मैं डॉ. आंबेडकर की बगल वाली सीट पर बैठा था। उन्होंने बताया कि बातचीत के दौरान डॉ. आंबेडकर ने उनसे कहा कि “मिस्टर माथुर, आप जानते हैं कि मैं इस देश का कानून मंत्री हूँ। मेरे साथी मंत्रियों के घरों में जब कभी कोई सामाजिक कार्यक्रम होता है तो मैं जाता हूँ और वहाँ पर जो भी पका होता

है मैं खाता हूँ। परन्तु जब कभी मैं अपने साथी मंत्रियों को अपने घर पर बुलाता हूँ तो उनमें से अधिकतर कुछ भी नहीं खाते हैं और उस दिन व्रत होने का बहाना बना देते हैं। इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि मेरे साथियों के बीच मेरा सामाजिक दर्जा क्या है?”

इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि जब इस देश के कानून मंत्री और संविधान निर्माता के साथ उनके सवर्ण सहकर्मी ऐसा व्यवहार करते थे तो गाँव में एक अदने दलित के साथ क्या व्यवहार होता होगा? इसीलिए डॉ. आंबेडकर ने हिन्दू धर्म की नारकीय जाति व्यवस्था को नकारने का निर्णय लिया था।

-एसआर दारापुरी



## कर्मचारी भविष्य निधि पर सरकार की गिद्ध दृष्टि

**काम पर जाने** की धुन में सुबह-सुबह मजदूर आनन-फानन में तैयार होकर घर से निकल जाते हैं। मजदूर महिला और पुरुष दोनों फैक्टरी के गेट पर पहुँच जाते हैं। सारा दिन मालिकों की डॉट-फटकार और गालियाँ सुनने के बाद भी वे कम्पनी से कोई पंगा नहीं लेते। इसके बावजूद जब वेतन की बात आती है तो कहीं न कहीं मालिक द्वारा तीन तिकड़म कर उनका वेतन काट लिया जाता। फिर भी वे काम में लगे रहते हैं। मजदूर वर्ग की हालत इतनी खराब है कि अपनी नौकरी को बचाये रखना उनकी सबसे बड़ी चिन्ता होती है। नौकरी छिनते ही उनकी जिन्दगी में भूचाल-सा आ जाता है। लेकिन 18 अप्रैल की सुबह बंगलूरु के मजदूर काम पर जाने के बजाय सड़क पर उतर आये। उस दिन ऐसा क्या हुआ कि उन्हें किसी चीज का डर नहीं रहा? नौकरी का भी नहीं। अलग-अलग कपड़ा फैक्ट्रियों के मजदूरों ने बंगलूरु की सड़क को जाम कर दिया। यह कोई छोटा-मोटा प्रदर्शन नहीं था। इसमें 1.2 लाख कपड़ा कर्मचारियों ने भाग लिया था। इनमें अधिकतर महिलाएँ थी। बंगलूरु के कपड़ा उद्योग में कार्यरत मजदूर पीएफ यानी भविष्य निधि से सम्बन्धी नियम में बदलाव के खिलाफ विरोध प्रदर्शन कर रहे थे। बंगलूरु शहर में सैकड़ों कपड़ा बनाने वाली फैक्ट्रियाँ हैं। पुलिस आयुक्त के मुताबिक इन कपड़ा फैक्ट्रियों में 12 लाख से अधिक कामगार काम करते हैं। भविष्य निधि के बारे में सरकार का फैसला सीधे-सीधे 12 लाख मजदूरों को प्रभावित कर रहा था, जिसके चलते मजदूर काम छोड़ कर विरोध प्रदर्शन कर रहे थे।

प्रदर्शन कितना उग्र था, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि बसों में आग लगा दी गयी, पुलिस के ऊपर पत्थर फेंके गये। 43 पुलिसकर्मी

जख्मी हुए और 80 मजदूरों को चोटें आयीं। तीन दिन बंद के दौरान पूरे शहर का कारोबार ठप्प पड़ गया और कुल उद्योगों को 1500 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। यह उस गुस्से का इजहार था जो इन मजदूरों के मन में काफी अरसे से सुलग रहा था। इतना उग्र और व्यापक आन्दोलन केवल पीएफ में कटौती के चलते नहीं हो सकता था, बल्कि इसके कुछ गहरे कारण हैं। कपड़ा उद्योग की फैक्ट्रियों में श्रमिकों का बेहद अमानवीय उत्पीड़न होता है। इसके चलते कई मजदूर आत्महत्या भी कर चुके हैं। इन फैक्ट्रियों में 80 फीसदी औरतें हैं। इन पर आये दिन कम्पनी के उच्च अधिकारी यौन हमले करते रहते हैं। जो औरतें आवाज उठाती हैं, उन्हें तुरन्त नौकरी से हटा देने की धमकी मिल जाती है। कार्य स्थल पर अधिक काम कराने के लिए गाली-गलौज और धौंस-पट्टी आम बात है। इन मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी ही मिलती है और ओवरटाईम का अलग से भुगतान नहीं दिया जाता। आमतौर पर इन औरतों के पति भी ठेले, खोमचे चलाने वाले, फेरी लगाने वाले या कुली-पेंटर होते हैं, जिनकी कमाई से परिवार का खर्च पूरा नहीं होता। इसीलिए बड़ी संख्या में महिलाओं को खराब माहौल में मजदूरी करनी पड़ती है। ऐसे में पीएफ में कटौती इन पर दुहरे हमले के समान था जिसका इन्होंने बहुत उग्र तरीके से विरोध किया। दो दिन के विरोध प्रदर्शन के दौरान 48 कपड़ा मजदूरों को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया। लेख लिखे जाने तक उन्हें रिहा नहीं किया गया था।

सरकार द्वारा बनाये गये नये नियम के मुताबिक पीएफ में से कर्मचारी का जमा किया हिस्सा ही निकाला जा सकता है जबकि मालिक द्वारा जमा राशि 58 साल की उम्र में सेवानिवृत्ति के बाद ही मिलेगी।

कई बार अचानक मजदूर को अधिक धन की जरूरत पड़ जाती है, जैसे- अपने बच्चों की पढ़ाई के लिए, बेटों-बेटियों की शादी के लिए, बीमारी होने पर, बैंक का कर्ज चुकाने के लिए या किराया देने के लिए। अब मजदूर इस राशि का उपयोग इन कामों के लिए नहीं कर सकेगा। पीएफ का एक हिस्सा मजदूरों के खून पसीने से संचित गाढ़ी कमाई का होता है और दूसरा हिस्सा जो सरकार या मालिक देता है, वह भी उस मुनाफे का एक बहुत ही छोटा सा अंश होता है जिसे मजदूर अपने श्रम से पैदा करता है। इस तरह जमा धन के दोनों हिस्से कर्मचारियों का पैसा होता है जो उनके वेतन से काटकर जमा किया जाता है।

यह कैसी सरकार है जिसे देश के लोगों की बदहाली से कुछ भी लेनादेना नहीं है? इस साल आम बजट में कर्मचारी भविष्य निधि कोष (ईपीएफ) के 60 फीसदी हिस्से की निकासी पर टैक्स लगा दिया गया। इस प्रस्ताव की चौतरफा आलोचना हुई और कर्मचारियों ने जबर्दस्त विरोध प्रदर्शन भी किया। संगठित क्षेत्र के कर्मचारियों ने इसे किसी भी हालत में लागू न होने देने की बात कही। भारी विरोध के बाद सरकार ने अपने कदम वापस ले लिए। वर्तमान सरकार आर्थिक मंदी के मद्देनजर पूँजीपतियों के ऊपर लगने वाले कॉरपोरेट टैक्स में छूट दे रही है। कॉरपोरेट टैक्स 30 फीसदी से घटाकर 25 फीसदी कर दिया गया। दूसरी ओर अपने खजाने की पूर्ति के लिए सरकार उस पैसे पर भी कर वसूलना चाहती है, जो गरीब मजदूरों ने दो-दो पैसा जोड़कर इकट्ठा किया है। सरकार देश का खजाना पूँजीपतियों पर लुटा रही है। पूँजीपति सरकारी बैंकों का चार लाख करोड़ रुपये से अधिक का कर्ज लौटाना नहीं चाहते। उनमें से एक विजय माल्या पर थोड़ी सी कड़ाई की गयी तो वह सरकार की आँखों के आगे

से विदेश भाग गया। इनमें से कई मोटे आसामी तो अभी भी लाखों करोड़ दबाये बैठे हैं। उन पर कोई कार्रवाई नहीं होती जबकि दूसरी तरफ सरकार कर्मचारियों की बचत पर भी टैक्स लादना चाहती है। सरकार की नीतियों का यह कैसा दुहरापन है? यह लोकतंत्र है या चोरतंत्र?

मजदूरों के आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित करने वाले श्रम कानूनों को पूँजीपतियों के हित में काफी हद तक बदल दिया गया है और बचे-खुचे कानूनों को बदलने की कवायद चल रही है। पूँजीपति मजदूरों के शरीर से खून की एक-एक बूँद को मुनाफे में ढालने के फिराक में रहते हैं। आज किसी भी संस्था में कार्यरत मजदूर यदि अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाते हैं, तो ऐसी माँगों को फैक्टरी मालिकों द्वारा बेरहमी से कुचल दिया जाता है। मजदूरों को अपनी यूनियन बनाने का भी अधिकार नहीं है। यदि मजदूरों में से कोई आगे बढ़कर मजदूरों की यूनियन बनाने की कोशिश करता है, तो उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ता है। एक झटके में मजदूरों को नौकरी से बिना नोटिस दिये या कारण बताये, यह कह दिया जाता है कि 'कल से काम पर मत आना'। इसीके चलते अधिकांश कपड़ा उद्योगों में मजदूरों की कोई यूनियन

नहीं है और 18 अप्रैल का उग्र आन्दोलन पूरी तरह स्वतःस्फूर्त था।

वित्त मंत्रालय ने वित्त वर्ष 2015-16 के लिए कर्मचारी भविष्य निधि (इपीएफ) पर ब्याज दर कम करने का निश्चय किया है। इस पर कर्मचारियों ने कहा कि इपीएफ उनके खून-पसीने की कमाई का पैसा है जो पीएफ के रूप में जमा है, इसलिए उसको लेकर रहेंगे और उसमें किसी प्रकार की कटौती बरदाश्त नहीं की जायेगी। इपीएफ यानी कर्मचारी भविष्य निधि लोगों की कमाई के एक बड़े हिस्से की बचत होती है। इसे ओल्ड एज सिक्वोरिटी के तौर पर देखा जाता है। हमारे देश में करीब 40 करोड़ से ज्यादा कामगार हैं। इसका 9-10 फीसदी हिस्सा ही संगठित क्षेत्र से जुड़ा है, जहाँ पर इपीएफ योजना लागू है। बाकी 90 फीसदी असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की हालत इससे भी बुरी है, क्योंकि उन्हें किसी भी पीएफ योजना का फायदा नहीं मिलता। सरकार की तरफ से उनकी सामाजिक सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं। लेकिन जिन थोड़े लोगों को भविष्य के लिए बचत की सुविधा मिली हुई है, उस पर भी सरकार की गिद्ध दृष्टि लगी हुई है।

यह सब ऐसे समय में हो रहा है, जब पिछले कुछ महीनों में सेवा कर को दो

बार बढ़ाया गया है। नौकरियों की कमी चल रही है और देश की अर्थव्यवस्था की स्थिति ज्यादा बेहतर नहीं है। बहुतायत लोगों का जीवन स्तर और नीचे गिरता जा रहा है। केन्द्र सरकार शायद यह भूल रही है कि यही वे लोग हैं जिन्होंने भाजपा को 2014 के लोकसभा चुनाव में केन्द्र में बिठाया था। अच्छे दिनों का झॉंसा देकर वोट बटोरने वाली सरकार ने कॉर्पोरेट घरानों को मालामाल करने और आम जनता को कंगाल करने वाली नीतियाँ बनायीं। इससे इसकी लोकप्रियता का ग्राफ तेजी से नीचे आया। अगर मोदी सरकार इपीएफ पर लिए गये फैसले को वापस न लेती तो वह बचे-खुचे समर्थकों का भी विश्वास खो देती। फिलहाल चौतरफा विरोध को देखते हुए मोदी सरकार ने इसे वापस ले लिया है। लेकिन अभी भी पीएफ से जुड़े कई मामलों को लेकर सरकार का रुख स्पष्ट नहीं है। वह कॉर्पोरेट घरानों को दी गयी छूट की भरपाई करने के लिए गरीबों की जेब पर डाका डालने की फिराक में है। ऐसी स्थिति में कपड़ा उद्योग के कर्मचारियों द्वारा किये गये विरोध से सभी मेहनतकशों को फायदा हुआ है, जिसमें महिलाओं ने सबसे बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया।

-अनुराग कुमार

## पूँजीवाद और खेती

आबादी को बड़े-बड़े केन्द्रों में जमा करके और शहरी आबादी का पलड़ा अधिकाधिक भारी बनाकर पूँजीवाद एक ओर तो समाज की ऐतिहासिक चालक शक्ति का संकेन्द्रण कर देता है और दूसरी ओर मनुष्य और धरती के बीच पदार्थ के परिचलन को अस्त-व्यस्त कर देता है, अर्थात् भोजन और कपड़े के रूप में मनुष्य धरती के जिन तत्त्वों का उपयोग कर डालता है, उन्हें धरती में लौटने से रोक देता है और इसलिए वह उन शर्तों का उल्लंघन करता है, जो धरती को सदा उपजाऊ बनाने के लिए आवश्यक है। इस तरह वह शहरी मजदूर के स्वास्थ्य को और देहाती मजदूर के बौद्धिक जीवन को एक साथ चौपट कर देता है।... इसके अतिरिक्त पूँजीवादी खेती में जो भी प्रगति होती है, वह न केवल मजदूर को, बल्कि धरती को लूटने की कला की भी प्रगति होती है; एक निश्चित समय के वास्ते धरती की उर्वरता बढ़ाने के लिए उठाया जानेवाला हर कदम साथ ही साथ इस उर्वरता के स्थायी स्रोतों को नष्ट कर देने का कदम होता है।... (कार्ल मार्क्स, पूँजी, खंड - 1)

## दिल्ली की जलती झुग्गियाँ, बेदखल होते लोग

**दिल्ली के नवादा** मेट्रो स्टेशन से 500 मीटर की दूरी पर मटियाला, मछली मार्केट कबाड़ी झुग्गी बस्ती है। इस बस्ती में करीब 125 झुग्गियाँ हैं, जिनमें रिहायशी घर और गोदाम दोनों हैं। ये लोग बिहार के पटना, नालंदा, शेखपुरा जिले के पासवान, रविदास, मलिक (डोम), साव जाति से हैं, जो अपने परिवार के साथ 10-12 साल से यहाँ रह रहे हैं। इनकी झुग्गी बस्ती जिस जमीन पर बसी है वह डीडिए की है। लेकिन इस जमीन को लेकर जयकिशन वत्स (पंडित) और जसबीर सोलंकी का विवाद चलता है। दोनों ही अलग-अलग राजनीतिक पार्टी से जुड़े हुए हैं। इन झुग्गी बस्ती वालों से जयकिशन वत्स किराया वसूलते हैं तो दूसरी तरफ जसबीर सोलंकी बिल्डिंग मटीरियल (बदरपुर, ईट, रोड़ी) वालों से पैसा वसूलते हैं।

यहाँ के झुग्गी बस्ती वाले घरों, सड़कों, गली, मुहल्ले से कूड़ा उठाने का काम करते हैं। उनको कूड़ा उठाने के मेहनताने के रूप में कुछ पैसा नहीं मिलता, मिलती है गन्दा, चोर की उपाधि। दूसरों की गन्दगी उठाकर खुद गन्दे में रहने वालों के साथ छुआ-छूत का भेद बहुत ज्यादा है। यहाँ तक कि उनके साथ बैठना-उठना तो दूर की बात है, उनके बच्चों को स्कूल में दाखिला तक नहीं दिया जाता है। इस कबाड़ी बस्ती में 0-14 वर्ष के 250 बच्चे हैं लेकिन एक साल पहले तक एक भी बच्चा स्कूल में नहीं जाता था। एक अध्यापक के प्रयास से पिछले साल 75 बच्चों को दाखिला हो पाया। लेकिन इस साल बच्चों का दाखिला लेने से स्कूल ने मना कर दिया, खासकर एक भी लड़की का दाखिला नहीं हो पाया। पिछले साल जिन बच्चों का दाखिला मिला था उसमें से कई बच्चे अपने स्कूल में प्रथम स्थान लाये। इस बस्ती के एक किलोमीटर के दायरे में दो उच्च माध्यमिक विद्यालय, चार माध्यमिक विद्यालय और तीन आँगनवाड़ी केन्द्र हैं।

उन्हीं अध्यापकों के प्रयास से बस्ती में 'अक्षर ज्ञान अभियान' चलाकर बच्चों को शिक्षित करने का प्रयास किया गया। लेकिन अब उनकी यह बस्ती जल चुकी है (ज्यादा सम्भावना है कि उसे जलाया गया है)।

16 अप्रैल, 2016 को जब सभी लोग अपने-अपने काम पर चले गये थे तो उस बस्ती में आग लग गयी या लगा दी गयी। देखते ही देखते 93 घर आग में जल कर स्वाहा हो गये। लोगों के बर्तन, कपड़े, पैसे, कबाड़, बच्चों की किताब-कॉपी जल कर राख हो गये। अधिकारियों का दौरा हुआ, आनन-फानन में टेंट लगाये गये और एक दिन बाद उखाड़ भी लिये गये। इस गर्मी से आम जनता की जान जा रही है वहीं इन लोगों को प्रशासन द्वारा इस तपती धूप में खुले आसमान के नीचे छोड़ दिया गया। अरुण माली की पत्नी अपने एक माह के बेटे देवराज को गोद में लिए एक कीकर के पेड़ के नीचे बैठी हुई हैं। उसे अपने आँचल की छँव से ढँकने का प्रयास कर रही हैं। वे बताती हैं कि उनके घर का टीवी, पंखा सब कुछ जलकर खाक हो गये। इस बस्ती में बिजली, पानी, शौचालय जैसी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थी। पीने के लिए वे 3-4 बजे सुबह अलग-अलग जगहों से पानी लाते। खुले में शौच करने पर आस-पास के लोग काँच की बोतलों और पत्थर फेंकते। इस तरह की जलालत सहने के बाद भी लोगों की एक छोटी सी आशा थी कि "सरकार कुछ दे या न दे हमें यहाँ रहने दे"। सोना देवी जिनकी उम्र 70 साल से अधिक है, कहती हैं कि जब हम लोग यहाँ आये तो झाड़-झंखाड़ था, हम लोगों ने इस जगह को बनाया है।

जब बस्ती वाले कर्ज लेकर अपने आश्रय को दुबारा ठीक करने लगे तो कुछ लोग (जो अपने को नगर निगम का कर्मचारी बता रहे थे) 18 अप्रैल को बुलडोजर लेकर पहुँच गये, उस जगह को समतल करने

लगे और लोगों से बाँस-बल्ली उखाड़ने के लिये कहने लगे। लोगों ने मिल कर प्रतिवाद किया और कहा कि हम ऐसे ही रहेंगे। अपने को नगर निगम के कर्मचारी कहने वालों ने यह कहते हुए समझाने का प्रयास किया कि हम कचरा उठाने आये हैं। इस पर बस्ती के बादल ने जबाब दिया कि हम सारी दुनिया का कचरा साफ करते हैं, हमारा कचरा कौन साफ करेगा? लोगों के प्रतिवाद के बाद उनको वापस जाना पड़ा। दूसरे दिन फिर कुछ लोग (इस बार उनकी संख्या अधिक थी) आये और बुलडोजर से उनके बाँस, बल्ली उखाड़ने लगे। वे धमकी दे गये कि दो दिन में जगह खाली कर दो, नहीं तो हम मार कर भगा देंगे। बस्ती वालों ने भय के कारण बचा-खुचा समान समेट लिया। तब दूसरी खबर आयी कि जिसको रहना है नाम लिखवाए और किराया हमें दे।

प्रशासन द्वारा इन्हें दो टाइम की रोटी के अलावा और कोई सुविधा मुहैया नहीं करायी गयी और न ही इनको आश्वस्त किया गया कि तुम यहाँ रहो। इनके बीच भय का माहौल व्याप्त है।

मोदी सरकार 'स्वच्छता अभियान' पर करोड़ों रुपये प्रचार में लगा रही है, लेकिन जो लोग 'स्वच्छता अभियान' को सफल कर रहे हैं उनको सुरक्षा की गारंटी भी नहीं दे रही है। बल्कि सफाई करने के कारण इनके बच्चों को शिक्षा से दूर रखा जा रहा है। 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' के नारे की खुलेआम धज्जियाँ उड़ाई जा रही हैं, उनकी बेटियों का दाखिला तक नहीं हो पा रहा है। उनकी सुध न तो केन्द्र सरकार ले रही है, न ही दिल्ली सरकार। शकूर बस्ती में झुग्गियाँ टूटने पर रात में पहुँचने वाले दिल्ली के मुख्यमंत्री और काँग्रेस उपाध्यक्ष राहुल गांधी ने बाद में इनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। अब इनको अपने आशियाने से उजाड़े जाने का डर सता रहा है। पहले से ही हाशिये पर जी रहे इस वंचित जाति के

लोगों के बच्चों को दाखिला क्यों नहीं मिल रहा है? इनको दाखिला दिलाना किसकी जिम्मेदारी है? दूसरे की गन्दगी उठाने का क्या यही फल है कि इनके बच्चे पढ़ें नहीं, आने वाले समय में भी वे दूसरे की गन्दगी उठाते रहें और खुद उस गन्दगी में जीने को अभिशप्त रहें? क्या इसी से भारत माता की

जय होगी? चुनाव में भाजपा, काँग्रेस व आम आदमी पार्टी तीनों ने झुग्गी की जगह मकान देने का वादा किया था, क्या वह वादा चुनाव जीतने तक का था? क्या ये पार्टियाँ इन झुग्गी वालों के लिए कुछ करेंगी? आजकल अम्बेडकर को अपनाने और अपने आप को दलित का मसीहा साबित करने

की होड़ लगी हुई है। झुग्गी वाले दलित और महादलित जाति से हैं, इनके लिए मसीहा कौन होगा? कब तक वोट बैंक के लिये दलित गरीबों के साथ जुमलेबाजी चलती रहेगी?

-सुनील कुमार

## सूखे की मार से बेहाल लातूर

भारत में चीनी के एक चौथाई हिस्से का उत्पादन अकेले मराठवाड़ा में होता है, लेकिन आज इस क्षेत्र को पानी और भोजन की भारी कमी का सामना करना पड़ रहा है। केन्द्रीय जल आयोग के ताजा आकड़ों के मुताबिक देश के जलाशयों में पानी का स्तर अपनी पूरी क्षमता के 75 प्रतिशत तक घट गया है। देश के दक्षिण और पश्चिमी हिस्से के जलाशयों का जल स्तर तो अपनी पूरी क्षमता के मुकाबले महज 17 और 21 प्रतिशत पर सिमट गया है। हाल ही में भूजल सर्वे एवं विकास एजेंसी द्वारा दिये गये आँकड़ों के मुताबिक लातूर में भूजल पहले के मुकाबले 3 मीटर नीचे जा चुका है। महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और तेलंगाना के कई हिस्सों में पेयजल और सिंचाई की समस्या बहुत गम्भीर हो गयी है। पानी की तलाश में इन इलाकों का कोई न कोई इंसान तपती धूप में तड़पकर दम तोड़ देता है। दशा इतनी खराब हो चुकी है कि जीविका के संसाधन जुटाने के लिए मराठवाड़ा के ही उस्मानाबाद इलाके की कमलीबाई को अपनी बेटी बेचनी पड़ी, लेकिन आज भी उसके गम में वह आँसू बहाती है।

मराठवाड़ा क्षेत्र की इस दुर्गति का कारण प्रकृति का प्रकोप नहीं, बल्कि सरकार की दुर्व्यवस्था, ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिए तत्पर बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनियाँ और गन्ना माफिया हैं। ये कम्पनियाँ बीटी कपास जैसे हाइब्रिड बीजों को पानी की कमी वाले मराठवाड़ा जैसी जगहों पर भी बढ़ावा दे रही हैं। बीटी कपास में मौजूद विषाक्त पदार्थ मिट्टी के

सूक्ष्म जीवों को नष्ट कर देते हैं। इस तरह, मिट्टी की जल धारण क्षमता को कम करने के साथ ही यह इसे बंजर भी बना देता है। चीनी मिल माफियाओं ने मुनाफा कमाने के लालच में उन इलाकों में भी शूगर फैक्ट्रियाँ लगा दी हैं जहाँ पहले से ही पानी की बहुत कमी है। अकेले मराठवाड़ा क्षेत्र में ही गन्ने की 70 फैक्ट्रियाँ हैं। इन फैक्ट्रियों की जरूरत का 2,500 टन गन्ना उपजाने के लिए 25,00,000 लीटर पानी की आवश्यकता पड़ती है।

इस पूरे क्षेत्र में हर साल केवल 600-700 मिलीमीटर बारिश होती है। मिट्टी की जल धारण क्षमता बहुत कम है। पथरीली मिट्टी होने के कारण बारिश का सिर्फ 10 प्रतिशत पानी भूजल को रीचार्ज करने में प्रयुक्त हो पाता है, जो पर्याप्त नहीं है। सरकार ऐसी स्थिति से वाकिफ है। इसके बावजूद बीटी कपास और गन्ने की फसलों को बढ़ावा देने पर एक सवाल खड़ा होता है कि पानी निगलने वाली फैक्ट्रियों को सरकार की मंजूरी कैसे मिल जाती है? यह सवाल सीधे इस व्यवस्था की संचालक तथाकथित लोकतांत्रिक सरकार की तरफ जाता है जिसका काम जनसामान्य की जान की कीमत पर इन कम्पनियों और गन्ना फैक्ट्रियों को ज्यादा से ज्यादा मुनाफा पहुँचाना भर रह गया है। भाजपा सरकार में सड़क परिवहन मंत्री नितिन गडकरी चीनी मिल के मालिक हैं और एनसीपी के शरद पवार की सरकारी चीनी मिलों पर इजारेदारी है, जबकि लगभग सभी पार्टियों के किसी न किसी नेता की अपनी चीनी मिल है।

मिल मालिकों के आलीशान बंगलों को देखकर कहीं से भी नहीं लगता कि यह इलाका भयानक सूखे की चपेट में है। लेकिन गन्ना किसानों की हालत खराब है। यह बात तो जगजाहिर है कि यदि इन फसलों से किसानों का फायदा हो रहा होता तो आज यह क्षेत्र किसानों की आत्महत्या की राजधानी के रूप में नहीं जाना जाता।

सूखे की मार से सबसे ज्यादा प्रभावित जिले लातूर और सोलापुर हैं। हाल ही में लातूर तब प्रकाश में आया जब यहाँ तीन सालों से सूखे की मार झेल रहे लोगों के लिए पानी की ट्रेन चलायी गयी। जनता के प्रति सरकार की असंवेदनशीलता की पोल तो तब खुल गयी जब पानी की ट्रेन पहुँचाने के बदले रेलवे ने 4 करोड़ रुपये की माँग की। सूखे की मार झेल रहा लातूर बड़े-बड़े नेताओं के लिए पर्यटन स्थल बन गया। वहाँ पहुँचने वाले कुछ नेताओं ने सारी संवेदनशीलता ताक पर रखते हुए सेल्फियाँ ली। हेलीपैड बनाने में, धूल से नेताओं को बचाने में सड़कों पर हजारों लीटर पानी बर्बाद किया गया। जनता के प्रति सरकार का ऐसा रवैया जले पर नमक छिड़कने जैसा है।

सवाल यह है कि अगर कर्नल गद्दाफी लीबिया के रेगिस्तान में घर-घर पानी की पाइपलाइन बिछा सकते हैं, जिन्हें अमरीका ने तानाशाह कहकर नेशतनाबूद कर दिया, तो लोकतंत्र में लोग बूँद-बूँद पानी के लिए क्यों तरस रहे हैं? क्या यह सरकारी बदइन्तजामी और लापरवाही का नतीजा नहीं?



## लोकतंत्र का नया चुनावी फॉर्मूला बाहुबल से धनबल की ओर

**चुनाव जीतने के लिए** बाहुबल की जगह धनबल के इस्तेमाल का चयन तेजी से बढ़ रहा है। पाँच राज्यों के हाल के चुनावों ने इसे पूरी तरह प्रमाणित और पुष्ट किया है।

एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म (एडीआर) के अनुसार 2014 के संसदीय चुनावों में करोड़पति प्रत्याशियों के जीतने की सम्भावना 1 करोड़ से कम सम्पत्ती वाले प्रत्याशियों से 10 गुणा ज्यादा थी। इसी तरह आपराधिक मुकदमों में नामजद प्रत्याशियों की सम्भावना साफ छवि के प्रत्याशियों से 2.6 गुणा ज्यादा थी।

हालाँकि हाल के 5 राज्यों के चुनावों में भी गम्भीर अपराधों में नामजद प्रत्याशियों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है, लेकिन करोड़पति प्रत्याशियों की संख्या में बढ़ोतरी इससे कहीं ज्यादा है।

एडीआर की रिपोर्ट बताती है कि 2014 के बाद हुए सभी 8 राज्यों के चुनावों में करोड़पति प्रत्याशियों की संख्या में अप्रत्याशित बढ़ोतरी हुई है। बिहार जैसे गरीब राज्य में पिछले चुनाव की अपेक्षा यह बढ़ोतरी 25 प्रतिशत है, जबकि झारखण्ड में करोड़पति प्रत्याशियों की संख्या में 300 प्रतिशत की चौकानेवाली बढ़ोतरी हुई है।

बंगाल जैसे राज्य में जहाँ चाय की दुकान पर पूर्व विधायक के नामपट्ट के किस्से सुनने को मिलते थे, वहाँ भी इस बार चुनाव में करोड़पति प्रत्याशियों की संख्या 300 फीसदी बढ़ी है। हरियाणा और तमिनाडु में भी पार्टियाँ इसी राह पर चलीं और करोड़पतियों की संख्या 40 फीसदी तक बढ़ गयी।

भाजपा द्वारा लोकसभा चुनाव में बेहद महँगे “चुनाव मैनेजर” किराये पर रखने का

तरीका आज लगभग सभी पार्टियाँ और यहाँ तक कि निजी प्रत्याशी भी अपना रहे हैं। इस धन्दे में कुछ कम्पनियों के सीधे चुनाव में उतर आने की सम्भावनाएँ भी पैदा हो गयी हैं।

आजादी के बाद सरमायादारी के राज में जो बदलाव आये हैं, उनके चलते आज कोई धनबली सैंकड़ों बाहुबलियों को किराये पर रख सकता है और अपने विरोधियों को खरीद सकता है। चुनाव प्रचार में भीड़ जुटाऊ प्रचारकों और मीडिया की भूमिका इतनी अधिक है कि उसे साध पाना किसी स्थानीय बाहुबली के बूते से बाहर की बात है। दूसरी ओर जनता भी अब बाहुबली की जगह साफ छविवाले धनाढ्य को बेहतर मानने लगी है। प्रधान से लेकर प्रधानमंत्री तक के चुनाव में धनबल कैसे वोटों की राय को नियंत्रित करता है, इसे कोई भी देख सकता है।

अपने अनुभव से जनता सीख चुकी है कि चुनावबाज पार्टियाँ और नेता उसका कोई भला नहीं करने वाले हैं। वह यह भी जानती है कि संसदीय पार्टियों के बीच नीतियों और विचारों का अन्तर मिट जाने के चलते अब वह किसी भी पार्टी को वोट दे, ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला। सरकार चाहे किसी भी पार्टी की बने उसकी नीतियाँ धनी वर्ग को और अधिक धनी बनाने वाली ही होंगी। उसे यह भी एहसास है कि अपना प्रतिनिधि चुनना अब अधिकार की जगह मजबूरी ज्यादा है, लेकिन किसी अन्य विकल्प के अभाव और धुँआधार प्रचार के प्रभाव में जनता का काफी बड़ा हिस्सा इस जश्न का तमाशबीन बन जाता है और कुछ लोग इस मौके का लाभ उठा कर पैसा-दो पैसा बना लेने से भी पीछे नहीं हटते।

धनबल का संसदीय लोकतंत्र में इतने बड़े पैमाने पर तेजी से बढ़ना खुद संसदीय राजनीति के लिए घातक है। यह इसके चुनावी पाखण्ड पर पड़े झीने से परदे को भी उतार फेंकता है। लोकतंत्र ने अपना आधार वाक्य जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिए बनाया था। हालाँकि यह पहले ही दिन से धनिकों का शासन, धनिकों के द्वारा, धनिकों के लिए था। लेकिन आज धनिक वर्ग अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों को कूड़े के ढेर में फेंक कर सीधे सस्ता अपने हाथ में लेता जा रहा है। यह लोकतंत्र के आधारहीन और जनता से विमुख होते जाने का स्पष्ट प्रमाण है। लोकतंत्र का राजनीतिक अल्पतंत्र में बदल जाना आर्थिक क्षेत्र में धन-दौलत का मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सिकुड़ना है। इस पूरे ढाँचे में ही सड़ान्ध है, जिसे पूरी तरह बदलने की जरूरत है।



**“किसी समाज को बरबाद करने के लिए पहला कदम है उसकी स्मृतियों को मिटाना। उसकी किताबों, संस्कृति और इतिहास को नष्ट करो। फिर नयी किताबें लिखाओ, नयी संस्कृति बनाओ, नया इतिहास गढ़ो। कुछ दिनों में वह समाज भूलने लगेगा कि वह क्या है और था। उसके चारों ओर दुनिया और भी तेजी से भूलेगी। मनुष्य का सत्ता के खिलाफ संघर्ष इस स्मृतियों को भूलने के खिलाफ संघर्ष भी है।”**

—मिलान कुंडेरा

## हिंडाल्को के लिए आदिवासी गाँव को उजाड़ा

**रायपुर जिले के** बनखेता गाँव में खनन कम्पनी हिंडाल्को ने अपने मुनाफे के लिए लोगों को बेघर कर दिया। यह घटना 1 अप्रैल, 2016 की है। जिला-प्रशासन ने कम्पनी के अधिकारियों के इशारे पर बिना कोई नोटिस दिये तीन लोगों के घरों पर बुल्डोजर चलवा दिया। न कोई मुआवजे की बात हुई और न ही कोई पुनर्वास की व्यवस्था के बारे में सूचना देने की जरूरत समझी गयी। उनकी जमीन को अधिग्रहित करने के लिए उनकी सहमति लेना भी जरूरी नहीं समझा गया, बल्कि अचानक लोगों के घरों को गिरा दिया गया। जब दो महिलाओं ने अपने घरों को टूटते देखा, तो उन्होंने इस गैर-कानूनी अधिग्रहण का विरोध किया। वे रोती-गिड़गिड़ाती रहीं लेकिन उनकी बात सुनने वाला कोई न था। वे अपनी तबाही का मंजर देखती रह गयीं। विरोध करने पर उल्टे उन महिलाओं के खिलाफ ही कानूनी कार्रवाई की गयी। उन्हें जेल की सलाखों के पीछे डाल दिया गया। उन्हें रिहा कराने के लिए 250 महिलाओं ने थाने का घेराव किया।

इन पिछड़े आदिवासी क्षेत्रों में ऐसी घटनाएँ आम हैं। इस व्यवस्था में न्याय की माँग करने का मतलब अपनी जान जोखिम में डालना है। ऐसी ही घटना पिछले दिनों छत्तीसगढ़ के हसदेव-अरण्य कोल फिल्ड्स के परसा ईस्ट और केते बासन कोयला खदान में अदानी कम्पनी के हित में हुई थी, जिसमें 5 परिवारों को उजाड़ दिया गया था। जमीन छिन जाने के कारण आज वे सड़कों पर डेरा डाल कर रहने और अपने पेट पर पट्टी बाँधकर भूखे पेट सोने के लिए मजबूर कर दिये गये हैं। लेकिन केते गाँव के लोग आज भी जमीन वापसी या पुनर्वास की आस में आन्दोलन कर रहे हैं।

जंगलों और पहाड़ों में आदिवासी जन-जातियाँ सदियों से रह रही हैं, उनकी जाने कितनी पीढ़ियाँ वहीं पैदा हुई, पली-बढ़ी और उन्हीं जंगलों में अन्तिम साँस लीं। उन्होंने जंगलों और पहाड़ों में एक गाँव से दूसरे गावों

में जाने के लिए पगडंडियाँ बनायीं। नदियों के ऊपर पुलों का निर्माण किया। उन्होंने इलाज के लिए जड़ी-बूटियों की खोज की और उन्हें सुरक्षित रखा। वे खून-पसीना एक करके अपनी जीविका चलाते आ रहे हैं। वनों-जंगलों से उनका रोजी-रोजगार चलता है और उनकी सुरक्षा इन आदिवासियों का धर्म बन गया है। लेकिन आज उनसे कहा जा रहा है कि ये नदियाँ, पहाड़ और जंगल अब तुम्हारे नहीं हैं। अब ये देश के विकास में काम आयेंगे। तुम लोग यहाँ से चले जाओ। नदी, पहाड़ और जंगलों में फलती-फूलती इनकी संस्कृति आज खतरे में है।

पिछले साल केन्द्र सरकार किसानों की जमीनों को कानूनी तरीके से छिनने के लिए भूमि-अधिग्रहण बिल ले आयी थी, लेकिन देश भर में किसानों के भारी विरोध के कारण वह सफल न हो सकी। यह बिल संसद में पास होने पर सरकार को यह अधिकार मिल जाता है कि वह किसानों की सहमति लिये बगैर उनकी जमीन हड़प ले, विरोध करने पर किसानों को 6 महीने की सजा दे और 1 लाख रुपये तक का जुर्माना भी लगाये। इस काले कानून को पास कराने को लेकर सरकार की भारी किरकरी हुई, लेकिन फिर भी पिछले दरवाजे से किसानों की जमीनों का औने-पौन दामों में हड़पा जाना जारी है।

किसी भी लोकतांत्रिक देश की सरकार का दायित्व बनता है कि वह देश की खनिज-सम्पदाओं, खानों, पहाड़ों, नदियों, जंगलों, ऐतिहासिक इमारतों की रक्षा करे और देश के विकास में उनका समुचित उपयोग करे। सरकार की जिम्मेदारी है कि वह सबकी जरूरतों को महसूस करे और पूरा करे। जो लोग अशिक्षित हैं उन्हें शिक्षित करे। बेघरों के लिए घर की व्यवस्था करे। बेरोजगार व्यक्तियों को सम्मानजनक रोजगार दे। कोई भी माँ-बाप नहीं चाहेगा कि उसके बच्चों को शिक्षा न मिले और बड़े होकर वे सड़कों पर भटकने

के लिए मजबूर हों। बल पूर्वक भूमि-अधिग्रहण साफ तौर पर बयान करता है कि हमारे शासकों का मकसद सिर्फ खनन कम्पनियों का हित साधना है। इसलिए वे जनता के भारी-विरोध के बावजूद कम्पनियों को बेहताशा लूट की छूट दे रहे हैं। सरकार ने उन खनन कम्पनियों के बुलडोजरों और बड़ी-बड़ी दैत्याकार जेसीबी मशीनों को धरती माता की कोख को बंजर करने के लिए छुट्टा छोड़ दिया है। अगर कम्पनियों को वहाँ के बहुमूल्य खनिज पदार्थों के और ज्यादा दोहन में कोई दिक्कत होती है तो उनकी मदद के लिए पुलिस-प्रशासन अपनी सेवा देने के लिए हर समय ऐसे तत्पर रहता है जैसे वह कम्पनियों का कारिन्दा हो।

मीडिया चैनलों और अखबारों ने आदिवासियों और जनजातियों की समस्या से अपनी आँखें मूँद ली हैं। उनकी तबाही को कवरेज नहीं दिया जाता। आज मुनाफे की हवस में मीडिया अपना कर्तव्य भूल गया है। वह कोर्परेट घरानों के पैरों में लोट-पोट होने के लिए तैयार है। इसलिए आज अखबारों में पीड़ित आदिवासियों की खबरे सिरे से गायब हैं। लेकिन कुछ पत्रकार अभी भी पत्रकारिता की पवित्र आत्मा को जीवित रखे हुए हैं और सच का गला घोटने वालों के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे पत्रकारों को फर्जी मुकदमों में फँसाना और हत्या तक कर देना छत्तीसगढ़ में आम बात हो गयी है। इसके विरोध में पत्रकारों ने दिल्ली के जन्तर-मन्तर पर धरना भी दिया।

यह कैसा आजाद देश है, जिसमें शोषकों के अट्टाहास हर तरफ गूँज रहे हैं। पूँजीपतियों को बेतहाशा लूटने की खुली छूट है और पीड़ित को ही दोषी ठहराया जाता है। खुद को भारत का नागरिक साबित करने के लिए आदिवासियों को पहचान-पत्र और तमाम दस्तावेज रखना आवश्यक है, कभी भी उन पर आरोप लगाया जा सकता है कि वे नक्सली हैं या उनसे जुड़े हुए हैं और केवल शक के आधार पर उन्हें जेल में डाला जा सकता है। उन्हें हर समय



आदिवासी होने की कीमत चुकानी होती है।

कहने को तो छत्तीसगढ़ में 'आदर्श पुनर्वास नीति 2007' लागू है, जिसका उद्देश्य उन आदिवासियों या गैर-आदिवासियों के पुनर्वास की व्यवस्था करना और उन्हें उचित मुआवजा देना है, जिनकी जमीने ले ली गयी हैं। लेकिन

यह योजना भी तमाम पुरानी नीतियों की तरह अलमारियों में पड़ी धूल चाट रही है। कम्पनियों द्वारा उनकी जमीनों और खनिज-सम्पदाओं को हड़पने का सिलसिला अभी भी जारी है। लोकतंत्र एक मजाक बनकर रह गया है। उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड के आदिवासी इलाकों में अर्धसैनिक

बलों के दम पर प्राकृतिक संसाधनों की लूट अपने चरम पर है। इसका विरोध करने वाले देशद्रोही करार दिये जाते हैं और उन पर अंग्रेजी राज में बनाया गया देशद्रोह कानून थोप दिया जाता है।

-ललित कुमार

## सऊदी अरब भारतीय कामगारों के लिए नरक

भारत में रोजगार के अवसरों की कमी के चलते हर साल हजारों नौजवान विदेशों का रुख कर रहे हैं, जिनमें डिग्री धारक, मजदूर और बड़ी संख्या में घरेलू काम करने वाली महिलाएँ भी शामिल हैं। ऐसे लोगों के लिए सऊदी अरब एक अवसर देता है, जहाँ घरेलू काम के लगभग 18 हजार रुपए प्रति माह मिल जाते हैं। दलाल बड़े-बड़े सपने दिखाकर श्रमिकों से मोटा पैसा लेकर सऊदी अरब में काम दिलाने का वादा करते हैं। लेकिन तस्वीर का यह एक पहलू है जिसे देखकर अधिकतर लोग दलालों के मकड़जाल में फँस जाते हैं। पिछले दिनों सऊदी अरब से काम करके लौटने वालों ने जब आपबीती सुनायी तो वहाँ चल रहे निर्मम शोषण से पर्दा उठा गया।

दिसम्बर 2012 में सऊदी अरब गये एक मजदूर ने बताया कि उसे एक दलाल के जरिये वेल्डिंग का काम करने के लिए सऊदी अरब भेजा गया था, लेकिन वहाँ जाने पर उसका पासपोर्ट और फोन छीन लिया गया और उसे जबरदस्ती दिन-रात भवन निर्माण के काम में झोंक दिया गया। दो साल का अनुबन्ध समाप्त होने के बाद भी उसे 4 साल तक बंधुआ मजदूर बनाकर रखा गया। पाँच महीने पहले रियाद गयी 25 वर्षीय असीमा खातून की कुछ दिन पहले ही रहस्यमय मौत हो गयी, उनकी माँ की लाख कोशिशों के बावजूद असीमा का मृत शरीर अभी तक भारत नहीं भेजा गया। आसिमा की माँ बताती है कि घर की नाजुक आर्थिक हालत के चलते वह सऊदी अरब गयी थी, जहाँ उसे मार दिया गया। यह घटना सऊदी अरब में अप्रवासी श्रमिकों के साथ जिस तरह का बर्ताव किया जा रहा है उस शृंखला की एक कड़ भर है। 22 वर्षीय राजेश की कहानी इसे जोड़ती नजर आती है, जो बतौर मैकेनिक सऊदी अरब में काम करने गये थे, उनके भाई बताते हैं कि उनसे दिन रात काम लिया जाता था, और एक दिन किसी बात पर मालिक ने राजेश के सर पर लोहे की छड़ से वार किया जिसके कारण उनकी मृत्यु हो गयी।

कामगार महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय है। उनसे

दिन-रात काम लिया जाता है। सुबह 3 बजे से काम शुरू करके रात के 11 बजे तक बिना रुके काम में लगे रहना पड़ता है। उसके बावजूद उनके साथ शारीरिक उत्पीड़न और गाली-गलौज किया जाता है। स्थिति बहुत भयावह है। लगभग 3 लाख भारतीय महिलायें घरेलू नौकरानी के तौर पर सऊदी अरब में काम करती हैं। एक आँकड़े के अनुसार पिछले 3 सालों में लगभग 10 हजार महिलाएँ काम छोड़ कर भाग गयी। सऊदी में भारतीय दूतावास के मुताबिक यह संख्या हर रोज 5 की है। यह तथ्य वहाँ की स्थिति को चीख-चीखकर ब्यान कर रहे हैं। इसी के साथ-साथ वहाँ की कानून व्यवस्था में भी विदेशी कामगारों के साथ दुहरा व्यवहार किया जाता है। दक्षिण एशिया मानवाधिकार की निर्देशक के अनुसार अपने ऊपर शारीरिक उत्पीड़न का विरोध करने पर उन्हें जेलों में डाल दिया जाता है। अविश्वसनीय ढंग से उनके ऊपर इस तरह से मुकदमा चलाया जाता है कि केवल वर्ष 2012 में ही 69 भारतीय कामगार महिलाओं को मौत की सजा सुनायी गयी और यह सिलसिला साल दर साल बढ़ता जा रहा है।

इन घटनाओं की फेहरिस्त बहुत लम्बी है, सऊदी में भारतीय कामगारों के निर्मम शोषण के मुद्दे पर आज कोई भी नेता बोलने को तैयार नहीं है। मुम्बई की रहने वाली 28 वर्षीय एक महिला बतौर घरेलू परिचारिका सऊदी अरब में कार्यरत थी। कुछ समय बाद उनकी माँ को जानकारी मिली की वहाँ उसका अमानवीय शोषण किया जा रहा है। उनकी माँ ने उसे वापस लाने का हर सम्भव प्रयास किया, लेकिन असफलता हाथ लगी। इसके लिए उन्होंने विदेशमंत्री और प्रधानमंत्री को भी पत्र लिखा पर कोई जवाब नहीं मिला। अन्त में एक मानवाधिकार संस्था के जरिये उस महिला को भारत वापस लाया गया। सऊदी में भारतीय कामगारों की स्थिति पर राजनेताओं ने सामूहिक चुप्पी साधी हुई है। अभी भी लाखों लोग वहाँ निर्मम शोषण का शिकार हो रहे हैं और देश का विदेशी मुद्रा भण्डार भर रहे हैं।



## पीलीभीत फर्जी मुठभेड़ में ढेर से न्याय

**29 जून 1991** को एक बस 25 लोगो को लेकर उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र स्थित सिख धर्म स्थलों की यात्रा के लिये रवाना हुई। इनमें दो बुजुर्गों सहित 13 पुरुष, 9 महिलाएँ और 3 बच्चे थे। यह यात्रा 13 जुलाई को खत्म होनी थी। पीलीभीत से 125 किमी पहले बदायूँ में किछला घाट पर पुलिस बल ने बस को रोका और पास के पुलिस चौक पोस्ट पर चलने को कहा, यहाँ 60-70 पुलिसकर्मियों ने बस को घेर लिया और सभी 13 पुरुष यात्रियों को बस से उतार लिया। उनकी पगड़ियाँ उतरवाकर उसी से उनके हाथ पीछे बाँध दिये। दोनों बुजुर्गों को बस में वापस बैठा दिया गया। 15 पुलिस वाले बस में बैठ गये। पुलिस वालों ने सारे नियम कानून ताक पर रखते हुए बस यात्रियों को हिदायत दी कि कोई बाहर न देखे और साथ ही अपने सिर भी नीचे रखें। उस समय बस में केवल महिलाएँ, बच्चे और बुजुर्ग ही थे। सभी डरे हुए थे और सोच रहे थे कि न जाने अब क्या होगा?

पुलिस वालों ने बस ड्राईवर मुसरफ हुसैन को जीप और पुलिस ट्रक के साथ चलते रहने को मजबूर किया। छः घंटे की अनवरत यात्रा के बाद ये लोग माधोटांडा पहुँचे और वहाँ मौजूद पीलीभीत गेस्ट हाउस में रुके। यहाँ पहले से ही भारी संख्या में पुलिस मौजूद थी। इस छः घंटे के सफर के दौरान पुलिस वालों ने अमानवीयता की सारी हदें पर कर दी। किसी भी यात्री को शौच आदि की इजाजत नहीं दी गयी। 15 पुलिस वाले असलहों समेत बस में मौजूद थे परन्तु बुजुर्गों के हाथ भी नहीं खोले गये। हद तो तब हो गयी जब पुलिस ट्रक व जीप पीलीभीत गेस्ट हाउस में ही रूक गये और बस को आगे की ओर रवाना कर दिया गया। आठ घंटे बाद पुलिस ने बस को एक

नहर के पास रूकवाया 45 मिनट तक सघन तलाशी ली दो, कैमरों समेत सभी लोगो का सामान अपने कब्जे में ले लिया। जिन यात्रियों के साथ आठ घंटे इतना अमानवीय व्यवहार किया गया, उनके पास कोई भी हथियार या आपत्तिजनक चीज नहीं मिली। बस तलाशी के बाद बुजुर्गों के हाथ खोल दिये गये। बस को कोतवाली ले जाया गया।

बस में बैठे बुजुर्गों एवं महिला यात्रियों को अगले दिन पता चला कि समस्त 11 जवान सिख यात्रियों को आतंकवादी बताकर फर्जी मुठभेड़ में मार दिया गया। हालाँकि शव केवल 10 लोगों के ही बरामद हुए। ग्यारहवें व्यक्ति मलकैत सिंह के लिए उनके पिता ने यूपी के डीजीपी को पत्र लिखकर अनुरोध किया था कि उसे छोड़ दिया जाय, लेकिन उसका क्या हुआ आज तक पता नहीं चला। पुलिस ने 10 व्यक्तियों को मुठभेड़ में मार गिराया और एक भी पुलिसकर्मी को खरोंच तक नहीं लगी। अगर अधिकांश मुठभेड़ों की सही से जाँच की जाय तो वे झूठी ही निकलेंगी और तरक्की के बजाय पुलिस वालों को सजा ही मिलेगी। उस समय उत्तर प्रदेश के डीजीपी प्रकाश सिंह थे। इस उच्च अधिकारी की जानकारी के बिना इतना बड़ा हत्याकांड भला कैसे हो सकता था? इस तथ्य की जाँच-पड़ताल के बजाय उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया गया।

इस जघन्य हत्याकांड की जाँच चलती रही और 25 वर्षों बाद पीड़ितों के परिवार वालों को न्याय मिला। सीबीआई की विशेष अदालत ने अप्रैल 2016 को 47 पुलिस पुलिसकर्मियों को दोषी पाते हुए उम्रकैद की सजा सुनायी। ऐसे न्याय को क्या न्याय कहेंगे जिसकी प्रतीक्षा करते-करते कई लोगों के माता-पिता स्वर्ग सिधार गये

हों, युवा पत्नियाँ वृद्ध हो गयी हों? इतना ही नहीं यह व्यवस्था अपने उच्च अधिकारियों को बचाने का हमेशा प्रयास करती है जिन्हें वास्तव में अभियुक्त होना चाहिए। निचले स्तर के कर्मचारियों या सिपाहियों को बलि का बकरा बना दिया जाता है। यह बात हजम नहीं होती कि इतने बड़े हत्याकांड में उच्च अधिकारियों का हाथ न रहा हो, जिसमें पुलिस के 47 सिपाही सीधे शामिल रहे हों। सवाल उठता है, उन्हें कौन संचालित कर रहा था? वे किसके निर्देश पर काम कर रहे थे?

जिस समय इस जघन्य हत्याकांड को अंजाम दिया जा रहा था उस समय पीलीभीत के एसपी आरडी त्रिपाठी थे। उनके अनुसार मारे गये सभी 11 व्यक्ति हार्डकोर आतंकी थे और उनमें से कुछ पर मुकदमे चल रहे थे। परन्तु क्या अपराध सिद्ध हुए बिना ही पुलिस वालों को यह हक मिल जाता है कि वे बिना कानूनी प्रक्रिया पूरी किये लोगों की हत्या कर दें। यह बात एसपी साहब तब बता रहे हैं जब सीबीआई की विशेष न्यायालय ने मुठभेड़ को फर्जी मान लिया और इसके लिए अप्रैल 2016 को 47 पुलिसकर्मियों को उम्रकैद की सजा सुना दी है। क्या एसपी साहब अदालत की अवमानना नहीं कर रहे हैं? इस घटना को और ज्यादा समझने के लिए इतिहास को खंगालना पड़ेगा।

31 अक्टूबर 1984 को तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी की हत्या उनके अंगरक्षकों ने कर दी थी। खालिस्तानी आन्दोलन की आग ने प्रधानमंत्री को निगल लिया। सरकार और कांग्रेस के नेताओं ने साम्प्रदायिक ताकतों को खुलकर खेलने का मौका दिया। इसके बाद पूरे देश में सिख विरोधी दंगों में हजारों बेगुनाहों की जानें गयीं। यहाँ तक कि विदेशों में भी सिख

समुदाय को आतंकवादी के तौर पर प्रचारित किया जाने लगा। उन दिनों पंजाब में खालिस्तान की माँग भी जोर पकड़ रही थी। सिक्खों की इस माँग का विरोध क्रान्तिकारी कवि अवतार सिंह पाश ने भी किया। जिसके चलते उनकी भी हत्या कर दी गयी।

इस व्यवस्था में न्याय की अवधारणा बेहद भ्रामक है। अक्सर व्यक्ति को जिम्मेदार ठहराया जाता है और उसे सजा दी जाती है। जबकि सड़ी-गली व्यवस्था को बरकरार रखा जाता है, जो ऐसी परिस्थितियाँ बनाने के लिए जिम्मेदार है, जिसमें हिंसक आन्दोलन पनपता है। खालिस्तान की माँग एक असन्तोष था। यह असन्तोष क्यों पैदा हुआ? क्यों देश का एक समुदाय खुद को देश से अलग करने की माँग करने लगा? इस सवाल से हम कब तक बचते रहेंगे? दरअसल आजादी के बाद से ही देश के विकृत पूँजीवादी विकास ने कई समुदायों को हाशिये पर फेंक दिया है। ऐसी स्थिति में उनका असन्तोष किसी न किसी रूप में फूटता रहता है। विरोध-प्रदर्शन, हड़ताल, आन्दोलन या हिंसात्मक कार्रवाई इस असन्तोष की अभिव्यक्ति है। इस असन्तोष का शान्तिपूर्ण समाधान न निकाल पाना व्यवस्था की असफलता है। लेकिन यहाँ दस्तूर बन गया है कि असन्तुष्ट समुदायों को सैनिक बल से दबाकर उनकी आवाज को खामोश किया जाता है।

पहले 1973 में और आगे 1978 में पंजाब की नरमपंथी पार्टी अकाली दल ने आनंदपुर प्रस्ताव पारित किया था। यहीं से असन्तोष की शुरुआत होती है। राजधानी चंडीगढ़, फौज में सिक्खों की भर्ती और जल विवाद से सम्बन्धित अकालियों की मांगे पंजाब में जोर पकड़ने लगी। काँग्रेस ने अकालियों की माँगों को दबाने के लिए सिख प्रचारक जनरल सिंह भिंडरावाला को खड़ा किया। आगे चलकर भिंडरावाला हिंसक खालिस्तानी आन्दोलन का अगुआ बन गया। पंजाब में हिंसा का दौर शुरू हो गया। पुलिस और खालिस्तानियों में मुठभेड़ें हुईं।

एयर इंडिया के विमान का अपहरण कर लिया गया। 1983 में पंजाब के डीआईजी ए एस अटवाल की हत्या कर दी गयी। इन हिंसक गतिविधियों में 298 लोग मारे गये। इस उग्र आन्दोलन को दबाने के लिए 1984 में इंदिरा गाँधी की सरकार ने ऑपरेशन ब्लू स्टार शुरू किया और भारतीय सेना ने स्वर्णमंदिर को घेर लिया। दोनों ओर से जमकर लड़ाई हुई जिसमें सैकड़ों सैनिक और खालिस्तानी समर्थक मारे गये और हजारों निर्दोष नागरिकों की जाने चली गयी। इस हिंसा और प्रतिहिंसा में इंदिरा गाँधी को अपनी जान गवानी पड़ी। उसके बाद काँग्रेस की छत्रछाया में सिक्खों का कल्लेआम शुरू हुआ। डीआईजी के पी एस गिल की अगुवाई में पंजाब पुलिस ने खालिस्तान समर्थक की आड़ में नौजवानों को चुन-चुनकर निशाना बनाना शुरू किया। बाद में उन्हें इसके लिए पद्मश्री पुरस्कार से नवाजा गया। आज भी पंजाब के सीने में उस दौर के जख्म ताजा हैं।

दरअसल भारत जैसे बेहद खराब मानव सूचकांक वाले देश में फर्जी मुठभेड़ एक हकीकत बन गयी है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि पदोन्नति और सम्मान के लालच में पुलिसकर्मी निर्दोश लोगों की हत्या कर देते हैं। अमर उजाला ने पीलीभीत मुठभेड़ पर शक जाहिर किया था और इसके खिलाफ खबर प्रसारित की थी। उस समय यूपी की भाजपा सरकार ने मामले को रफा-दफा करने की पूरी कोशिश की थी। लेकिन सोढ़ी नाम के एक जज ने मामले को रफा-दफा होने नहीं दिया। मुकदमें की सुनवाई के दौरान साफ हो गया कि मुठभेड़ फर्जी थी और 11 व्यक्तियों की हत्या सोच-समझकर बिल्कुल ठण्डे दिमाग से की गयी थी।

अदालत के फैसले के बाद रिटायर्ड एसपी आरडी त्रिपाठी से जब पूछा गया कि अगर 11 सिख नौजवान अपराधिक पृष्ठभूमि वाले आतंकवादी थे, तब भी पुलिस को उन्हें मारने का अधिकार कैसे मिल गया? तब आरडी त्रिपाठी कहते हैं क्या पुलिस

वालों के मानवाधिकार (ह्यूमन राइट्स) नहीं है? क्या खूब कही है, जिसके पास सारे अधिकार हैं, जो पूरी तरह संगठित और सिर से पैर तक हथियारों से लैस है, वह पुलिस महकमा जनता से गिड़गिड़ाकर अपने लिए मानवाधिकार माँग रहा है। मानवाधिकार जैसे इनसानियत के लिए जरूरी अधिकार को इतना नीचे गिरा दिया गया है कि वह शोषित, उत्पीड़ित और वंचित समुदाय का अधिकार न होकर शोषकों का अधिकार हो गया है। आइये देखें क्या है यह मानवाधिकार यानी ह्यूमन राइट्स।

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार कुछ ऐसे मानवाधिकार हैं जो कभी छीने नहीं जा सकते। मानव जीवन की एक गरिमा है और स्त्री-पुरुष के समान अधिकार हैं। किसी को शारीरिक यातना देना और उसके साथ हिंसक वारदात करना मानव विरोधी काम है। इस कथन से स्पष्ट है कि मानवाधिकार उत्पीड़ित वर्ग का अपनी सुरक्षा के लिए एक अधिकार है। ऊँचे अधिकारी पुलिस के ह्यूमन राइट्स की बात करके निर्दोष लोगों को नहीं फँसा सकते।

क्या त्रिपाठी कोर्ट से भी ऊपर हैं? और अगर उनके पास सिक्खों के आतंकवादी होने के पुख्ता सबूत थे तो उन्हें कोर्ट में पेश क्यों नहीं किया गया? फैसला आने पर ऐसी बातें करने का क्या मकसद है? आर डी त्रिपाठी उच्च पद से सेवानिवृत्त हुए हैं और उस उच्च वर्ग से आते हैं जिन्हें किसी भी अपराध में सजा नहीं मिलती। पूँजीवादी व्यवस्था में यही होता है अगर अपराधी ऊँची पद प्रतिष्ठा वाला है या उच्च वर्ग से आता है तो अपराध के बाद उसके सितारे आसमान में चमकने लगते हैं। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अनुसार वर्ष 2010-15 के बीच 782 फर्जी मुठभेड़ों की शिकायतें दर्ज करायी गयीं। ये आँकड़े बताते हैं की पीलीभीत कांड के 25 वर्ष बाद भी यूपी पुलिस मर्ज को खत्म करने के लिए मरीज को ही खत्म करने की मानसिकता से काम कर रही है। आरटीआई से मिली जानकारी

के अनुसार 782 में से 160 मामलों में यूपी सरकार ने पीड़ितों को लगभग 9.47 करोड़ रुपये मुआवजा दिया जबकि पूरे देश में 314 शिकायतों में मुआवजे दिये गये।

गृह राज्य मंत्री किरण रिजीजू के अनुसार 2011-14 के बीच 185 फर्जी मुठभेड़ के केस पुलिस के खिलाफ दर्ज हुए। किसी परिवार का कोई सदस्य जब फर्जी मुठभेड़ में मारा जाता है, तब उसके परिवार का हाल क्या होता होगा, यह पुलिसकर्मी कभी नहीं सोचते, वे लालच में अंधे हो जाते हैं। लेकिन जब अदालतें उन्हें सजा सुनाती हैं तो वे अदालत पर भेदभाव का आरोप लगाते हुए हंगामा खड़ा करते हैं। कई बार सजा वारंट पर हस्ताक्षर तक करने से मना कर देते हैं। पीलीभीत फर्जी मुठभेड़ पर फैसला आने के बाद ऐसा ही

हुआ। मीडिया इन पुलिसकर्मियों को अपराधी के तौर पर नहीं, बल्कि पीड़ित के तौर पर पेश करती है। क्या कभी पंजाब में निर्दोष लोगों की हत्या करने वाले अपराधियों के खिलाफ कार्रवाई होगी? जिस व्यवस्था में प्रशासनिक अधिकारी, नेता और न्याय की कुर्सी पर बैठे अधिकांश लोग पूर्वाग्रह भरी सोच रखते हैं, सामाजिक समस्याओं को धर्म, जाति और भाई-भतीजे के चश्मे से देखते हैं, ऐसी व्यवस्था से न्याय की उम्मीद ही करना बेमानी है। उत्पीड़ितों के न्याय की लड़ाई सरकारी फाइलों में दबकर दम तोड़ देती है, सालों-साल चले मुकदमों के बाद जब फैसला होता है तो पता चलता है कि कई मुजरिम अघ्याशी भरी जिन्दगी बिताकर अपनी स्वभाविक मौत मर चुके हैं और कुछ का पैर कब्र में

लटका हुआ है। दूसरी ओर पीड़ित लोगों के मन से न्याय की आखिरी उम्मीद भी खत्म हो गयी होती है। न्याय व्यवस्था लोगों को थकाकर मार देती है। मानवतावादी सुधारक मार्टिन लूथर किंग ने कहा था कि 'न्याय में देरी, अन्याय के समान है।' इस अन्याय से लड़ने के लिए सभी उत्पीड़ित और शोषित जन-समुदाय को संगठित होकर एक नयी व्यवस्था बनाने के लिए संघर्ष शुरू करना होगा। एक ऐसी व्यवस्था जिसमें अपराधी के पास इतनी सम्पत्ति न हो कि वह न्याय को खरीद ले और उस व्यवस्था को चलाने वाले पक्षपाती न हों बल्कि मानवतावादी और वैज्ञानिक विचारधारा को मानने वाले हों।

--ओमवीर

## मैं क्यों लिखता हूँ

**खुद को कुछ** सनकी और तकलीफदेह अहसासों से बचाने के लिए।

जो खयालात और इलहाम मेरे दिमाग में उमड़ते-धुमड़ते हैं उनको तरतीब देने की कोशिश में ताकि उनको बेहतर ढंग से समझा जाय।

कोई ऐसी बात कहने के लिए जो कहने लायक हो।

लफ्जों के सिवा किसी भी दूसरी चीज का सहारा लिये बगैर कोई ऐसी चीज बनाने के लिए जो खूबसूरत और टिकाऊ हो।

क्योंकि इसमें मजा आता है।

क्योंकि सिर्फ यही काम है जिसे मैं कमोबेश बेहतर तरीके से करना जानता हूँ।

क्योंकि ये मुझे किसी नाकाबिले-बयान गुनाह से

आजाद कर देता है।

क्योंकि इस काम का मैं आदी हो गया हूँ और क्योंकि मेरे लिए ये किसी बुराई से, किसी रोजमर्र के काम से कहीं बेहतर है।

ताकि मेरी जिन्दगी का तजुर्बा, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, कहीं खो न जाये।

क्योंकि अपने टाईपराइटर और सादा कागज के आगे मेरे अकेले होने की हकीकत मुझे पूरी तरह आजाद और ताकतवर होने का भरम देती है।

एक किताब की शकल में, एक आवाज की तरह जिसे कोई सुनने की जहमत मोल ले सके, मरने के बाद भी जिन्दगी को कायम रखने के लिए।

--जूलियो रैमन रिबेरो, लातिन अमरीकी लेखक।

## आजादी से सरोकार रखने वालों की निगाह में भारत की छवि

**दुनिया के जाने माने विचारक और आधुनिक भाषाशास्त्र के जनक नोम चोम्स्की ने जेएनयू की हालिया घटना से निपटने के प्रशासनिक तौर-तरीकों पर सवाल खड़ा किया। उनका मानना है कि जो लोग आजादी, न्याय और मानवाधिकार से सरोकार रखते हैं उनकी निगाह में भारत की छवि धूमिल हुई है।**

पीटीआई को अपने ईमेल से दिये साक्षात्कार में मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी में भाषा शास्त्र और दर्शन के मानद प्रोफेसर, 85 वर्षीय चोम्स्की ने कहा कि अकादमिक स्वतन्त्रता किसी देश में राजनीतिक आजादी और लोकतंत्र की सम्पूर्ण स्थिति का एक महत्वपूर्ण सूचक होती है। सार्वजनिक उच्च शिक्षा व्यवस्था में निजीकरण की तेज रफ्तार आज दुनिया के पैमाने पर अकादमिक स्वतंत्रता का

गलाघोट रही है

चोम्स्की का मानना है कि भारत अकेला देश नहीं है जहाँ शिक्षण संस्थानों पर ऐसे आक्रमण हो रहे हैं, हालाँकि जेएनयू का घटनाक्रम खतरनाक सर्वसत्तावादी संस्कृति की ओर संकेत करते हैं। उन्होंने इस तरह के तीन प्रमुख उदाहरण दिये। पहला मामला तुर्की सरकार द्वारा कुर्दों के खिलाफ युद्ध छेड़े जाने के खिलाफ “ऐकेडमिक्स फॉर पीस” द्वारा जारी प्रतिवेदन पर दस्तखत करने वाले 1200 लोगों के ऊपर तुर्की के अधिकारियों का हमला है। दूसरा, जेएनयू और हैदराबाद विश्वविद्यालय के कैम्पस में शान्तिपूर्वक आन्दोलन करने वाले छात्रों पर भारतीय अधिकारियों का हमला है। तीसरा मामला मिस्र की राजधानी काहिरा में इटली निवासी शोधछात्र ग्युलियो रेगेनी को यंत्रणा देकर मार दिया जाना है।

चोम्स्की ने जेएनयू के कुलपति को पत्र लिखकर उनके इस निर्णय पर सवाल उठाया था कि उन्होंने एक कार्यक्रम में देश-विरोधी नारे लगाये जाने के कथित आरोप में 6 छात्रों पर राजद्रोह का मुकदमा दर्ज होने के बाद कैम्पस में पुलिस के प्रवेश कि इजाजत दी, जबकि कानूनी तौर पर इसकी आवश्यकता नहीं थी।

दुनिया के 40 विश्वविद्यालयों से मानद उपाधि प्राप्त चोम्स्की उस विरोध-पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों में से एक थे जिस पर नोबल पुरस्कार प्राप्त ओरहन पामुक सहित दुनिया भर के 84 ख्यातिलब्ध अकादमीशियनों ने जारी किया था। उस विरोध-पत्र के माध्यम से भारत की वर्तमान सरकार द्वारा पैदा की जा रही खतरनाक सर्वसत्तावादी संस्कृति की निन्दा की गयी थी।

## दुनिया भर में जानलेवा प्रदूषण

**विश्व स्वास्थ्य संगठन** की ताजा रिपोर्ट के मुताबिक दुनियाभर में पच्चीस फीसदी असमय मौतों का कारण प्रदूषित और जहरीले माहौल में काम करना है। इनमें सबसे ज्यादा गरीब बच्चे और बूढ़े हैं।

यह रिपोर्ट दुनिया भर में मौत के कारणों का सर्वे करके तैयार की गयी, जिसमें पाया गया कि 2012 में 1 करोड़ 26 लाख मौतें जहरीले माहौल में काम करने के चलते हुईं। इन कारणों में पानी, हवा और मिट्टी के प्रदूषण से लेकर जलवायु परिवर्तन तक शामिल हैं। प्रदूषण के कारण मरने वालों में 17 लाख बच्चे हैं जो हर साल होने वाली शिशु मृत्यु का 26 फीसदी है, जबकि 50 से 75 वर्ष कि उम्र के 49 लाख लोग इसके शिकार हुए।

प्रदूषण से होने वाली मौतों में 82 लाख, यानी लगभग दो तिहाई का कारण वायु प्रदूषण रहा है। पश्चिमी प्रशान्त और दक्षिणी एशिया के देशों में प्रदूषण जनित मौत सबसे

अधिक संख्या में होती हैं।

जहरीले और असुरक्षित वातावरण में काम करने वाले लोगों को सांस के रोग, हृदय रोग, डायरिया और कैंसर जैसी बीमारियाँ बड़े पैमाने पर होती हैं। दूसरी ओर स्वास्थ्य सेवाओं पर सरकारी खर्च में कटौती और निजी मुनाफे को बढ़ावा देने के चलते इन बीमारियों से ग्रसित लोगों के आगे लाइलाज मर जाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं। शहर कि गन्दी बस्तियों, झोपड़पट्टियों और खतरनाक उद्योगों में काम करने वालों की जिन्दगी को देखते हुए ये आँकड़ें बिल्कुल हैरान नहीं करते। सच तो यह है कि ऊपरी तबकों की जिन्दगी में रोशनी और चमक-दमक लाने वाले ये अभागे लोग ही हैं, जो दो जून की रोटी के लिए मौत के मुँह में समाने से भी नहीं हिचकते। मुनाफे और लूट पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था के रहते न तो वातावरण को जहरीला होने से बचाया जा सकता है और न ही उसके शिकार लोगों को असमय मौत से।

## भारत-अमरीका सैन्य समझौता ऊँट ने तम्बू में सिर घुसाया

**चीन का मुख्य** प्रतिद्वन्दी अमरीका है, न कि भारत। अमरीका को चुनौती देने और दक्षिणी चीन सागर में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए चीन ने वहाँ निगरानी बढ़ा दी है। पूर्वी एशिया में चीन की बढ़ती दखलान्दाजी और अमरीकी दबदबे में गिरावट जारी है। यह अमरीका के रणनीतिकारों के लिए लम्बे समय से चिन्ता का विषय बना हुआ है। कई दशकों से उनकी रणनीति का उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया में ऐसी जमीन तलाशना रहा है, जहाँ से वे परिस्थितियों पर निगरानी रख सकें और अमरीका के विरुद्ध होने वाली किसी भी कार्रवाई को रोक सकें। हाल ही में भारत और अमरीका के बीच सम्पन्न सैन्य समझौता (लॉजिस्टिक सपोर्ट एग्रीमेन्ट, कम्युनिकेशन्स इन्टरऑपरेबिलिटी एण्ड सेक्युरिटी मेमोरेण्डम ऑफ एग्रीमेन्ट ऑर बेसिक एक्सचेन्ज एण्ड कोऑपरेशन एग्रीमेन्ट) इन्हीं राजनीतिक उद्देश्यों की ओर बढ़ाया गया कदम है। यह जून 2005 में हुई भारत-अमरीका रणनीतिक साझेदारी और नाभिकीय समझौते की अगली कड़ी है। अमरीका इसमें काफी लम्बे समय से लगा हुआ है। 2013 में अमरीकी पॉलिसी थिंक टैंक संस्था 'बुकलिंग इन्स्टीट्यूशन और इस साल कारनेगी इन्डोमेन्ट ऑफ इन्टरनेशनल पीस का भारत में कार्यालय खुलना भारत की विदेश नीति को अमरीकी विदेश नीति के अनुरूप ढालने की दिशा में बढ़ाया गया कदम है। पहले उसने मीडिया के दम पर भारतीय जनमानस के बीच अमरीका की शानदार छवि बनायी। ढेर सारे गैर सरकारी संगठन और धार्मिक संस्थाएँ अमरीका से संचालित होती हैं और हजारों अमरीकी कम्पनियाँ यहाँ काम कर रही हैं, जो लोगों के दिमाग में अमरीका की सुनहली तस्वीर पेश करती हैं। पिछले चार साल में अमरीका ने भारत को हथियार निर्यात करने के मामले में रूस, इजराइल और फ्रांस को भी पछाड़ दिया है। अब सैन्य समझौते के तहत भारतीय जमीन पर अमरीकी सैनिक और

विमान भी उतारे जायेंगे। सरकार अब देश की सम्प्रभुता भी दाव पर लगाकर अमरीकी सैनिकों को भारत की जमीन पर बुलाने की फिराक में है। अब भारत और अमरीका हिन्द महासागर में साथ-साथ काम करेंगे। भारत के विदेशी मामलों के एक जानकार के अनुसार, "अभी तो ऊँट ने तम्बू में सिर्फ सिर घुसाया है, पूरा शरीर बाकी है।" यह समझौता अमरीकी साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीपतियों के हित में है। हो सकता है कि शुरू में अमरीकी सैनिक भारत के अन्दर किसी शान्तिपूर्ण अभियान में नजर आयें। जैसे बाढ़ पीड़ितों की मदद करते हुए या बर्फ में फँसे लोगों को निकालते हुए। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम बहुत खतरनाक होंगे।

भारत और अमरीका के बीच के इस सैन्य करार का मुख्य पहलू इस प्रकार है, "वाशिंगटन और दिल्ली दोनों की सेनाएँ एक दूसरे की जमीन, हवा और समुद्री अड्डों का उपयोग विमानों की मरम्मत, ईंधन आपूर्ति और सैनिक विश्राम के लिए कर सकती हैं।" भारतीय शासक इस समझौते को बराबरी का समझौता बताते हुए तर्क दे रहे हैं कि हम भी तो बदले में अमरीका की जमीन पर सैनिक अभ्यास कर सकते हैं और विमानों में ईंधन भर सकते हैं। पहली बात तो यह कि अमरीका की जमीन पर या समुद्री इलाके में सैनिक और विमान उतारने से भारत का कोई राजनीतिक हित जुड़ा हुआ नहीं है। मौजमस्ती के लिए भले ही यहाँ के शासक अपने मंत्रियों और सैन्य अधिकारियों को भेज सकते हैं। दूसरी बात ठीक इसके विपरीत है। अमरीकी सैनिकों के भारतीय जमीन पर उतरने और समुद्र में गश्त करने से पूरे एशिया में सैन्य गतिविधियों को बढ़ावा मिलेगा। इससे इस इलाके में हथियारों की होड़ बढ़ जायेगी और तीसरी दुनिया के देशों के बीच भारत की छवि धूमिल होगी। साथ ही भारत के परम्परागत और विश्वसनीय सहयोगी देश, जिनके साथ अमरीका

की सीधी दुश्मनी है वे दूर होंगे।

इस समझौते से भारत अपनी गुट निरपेक्ष नीति को छोड़कर अमरीका का पिछलग्गू बन गया है। भारत ने इस समझौते में इस साधारण सी बात को भी नजरअन्दाज किया कि "दूर-दराज के रिश्तेदार से ज्यादा महत्त्वपूर्ण पड़ोसी होता है।" अमरीकापरस्त विदेश नीति का ही नतीजा है कि आज पड़ोसी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध दिनों-दिन खराब होते जा रहे हैं। अमरीका का पिछलग्गू बनने से रूस और चीन के साथ भारत के राजनीतिक सम्बन्धों पर नकारात्मक प्रभाव पड़ना तय है। इस समझौते में भारत ने अपनी स्वायत्ता खो दी है। अपनी आत्म निर्भरता को चन्द हथियारों के लालच में आकर गिरवी रख दिया है। निश्चित ही यह एक शर्मनाक समझौता है, जिसकी जमीन काँग्रेस सरकार ने तैयार की और भाजपा सरकार ने बीज बोने का काम किया। पाकिस्तानी और चीनी सेना से तुलना करके भारतीय शासक खुद को तुच्छ समझने लग जाते हैं, ऐसे में इन्हें राष्ट्रभक्ति का एक ही काम सूझता है- पाकिस्तान से भी अधिक क्षमता का हथियार खरीदना। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि चीन से वे हथियारों की होड़ नहीं कर सकते। इसको भी अमरीका अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल करता है। जैसे अमरीका भारत को एफ-16, एफ-18 और दूसरे मॉडल के अपने विमान बेचना चाहता है। अमरीकी विदेश सचिव कार्टर ने बताया कि हाल ही में अमरीका ने पाकिस्तान को एफ-16 लड़ाकू विमान बेचे हैं। भारतीय शासकों ने इसका कड़ा विरोध किया। मगर इनके विरोध का अमरीकी रणनीतिकारों पर कोई असर नहीं हुआ। इस पर भारतीय रक्षा मंत्रालय ने एफ-16 और एफ-18 को खरीदने का समझौता किया। इस तरह से अमरीकी रणनीति कामयाब हुई। अब ये उन्हें "मेक इन इण्डिया" के तहत यहाँ विमान बनाने के लिए बुला रहे हैं। जिसमें कच्चा माल यहाँ का होगा, श्रम यहाँ

का होगा और मुनाफा अमरीकी कम्पनियों का। इन समझौतों को भारतीय शासक वर्ग ने महत्वाकांक्षी बताया है। ये निश्चित रूप से महत्वाकांक्षी हैं मगर अमरीका के साम्राज्यवादी मंसूबों के लिए।

हथियारों की होड़ को बढ़ावा देना और कारोबार करके अकूत मुनाफा कमाना, अमरीका की यह बहुत पुरानी रणनीति है। द्वितीय विश्वयुद्ध से ही अमरीका ने हथियार बेचना अपना मुख्य कारोबार बना लिया था। तब से आज तक अमरीका की अर्थव्यवस्था में हथियारों की बिक्री की अहम भूमिका रही है। अमरीकी रणनीतिकार ऐसी नीतियाँ बनाने में बहुत हद तक सफल रहे हैं जिससे दुनिया भर में अमरीकी दबदबा बना रहे। उसके हथियारों को खरीदने का सिलसिला जारी रहे। सोवियत संघ के विघटन, चीन में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना ने वैश्विक पटल पर परिस्थितियों को अमरीका के अनुकूल बना दिया। जिससे वह एकध्रुवीय विश्व बनाने में काफी हद तक सफल रहा। नाटो जैसे संगठन पर अमरीका के पूरे दबदबे और अमरीकापरस्त मीडिया के चलते दुनिया को नियंत्रित करने के उसके मंसूबे और भी बढ़ गये। दूसरे देशों में दखलन्दाजी करना यानी किसी भी देश की सम्प्रभुता से खिलवाड़ करना अमरीका का इतिहास रहा है। इस दखलन्दाजी के दम पर वह अपने हित में व्यापारिक और राजनीतिक समझौते करता है। लोकतंत्र के नाम पर कमजोर देशों पर कब्जा जमाना और शान्ति के नाम पर गरीब देशों पर बमबारी करना अमरीका की पसन्दीदा रणनीति है। इन साम्राज्यवादी मंसूबों में दोगम दर्जे का साझेदार बनना भारत के लिए बेहद शर्मनाक है। यह समर्पणवादी विदेश नीति अपनी स्वायत्तता और सम्प्रभुता को दरकिनार करना है। जब 1991 में अपनी आन्तरिक क्षमता और संसाधनों के बूते भविष्य निर्माण करने की और आत्मनिर्भर बनने की आर्थिक नीति को भारतीय शासकों ने तिलांजली दे दी तो उसी के अनुरूप विदेश नीति और सैन्य रणनीति में परनिर्भर होना लाजमी था। महाशक्ति बनने का दिवास्वप्न बाहुबली का लवैत बनने पर जाकर ठहर गया सा लगता है।

--राजेश चौधरी

## नीट के खिलाफ सरकारी अध्यादेश : लूट की छूट

सुप्रीम कोर्ट ने 9 मई को फैसला दिया था कि मेडिकल कॉलेजों में एनईईटी (नीट) के जरिये ही दाखिला होगा। नीट यानी नेशनल एलिजिबिलिटी एण्ड इन्ट्रेन्स टेस्ट, देश के सभी मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश के लिए केन्द्रीय स्तर पर परीक्षा की प्रणाली है। एक साथ मेडिकल प्रवेश परीक्षा के पक्ष में सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले से पूरे देश के छात्रों और उनके परिजनो में खुशी छा गयी लेकिन सरकार ने अध्यादेश जारी कर सुप्रीम कोर्ट के फैसले को पलट दिया। अब छात्रों को अलग-अलग राज्यों में जाकर परेशानी नहीं उठानी पड़ेगी। यदि सुप्रीम कोर्ट का आदेश लागू हो जाता तो 1. देश के 400 मेडिकल कॉलेजों में से किसी भी एक में दाखिल होने के लिए एक ही परीक्षा देनी होती। 2. नीट के मेरिट अंकों के मुताबिक छात्रों के पास अपनी पसन्द के कॉलेजों में आवेदन करने का विकल्प होता। 3. इससे पहले 100 अलग-अलग परीक्षाओं की फीस 12,00 से 6,000 रुपये तक थी जिसमें अगर छात्र 4 या 5 जगह भी परीक्षा देते तो 5 हजार से 30 हजार रुपये तक का खर्चा आता जिससे छात्र बच जाते। 4. निजी मेडिकल कॉलेज मनमाना डोनेशन नहीं ले पाते। 5. राज्य स्तर पर कॉलेजों में प्रवेश के लिए व्यापम जैसे घपलों की गुंजाइश नहीं रहती। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर न्यायालय ने नीट के पक्ष में फैसला सुनाया था।

सुप्रीम कोर्ट के इस आदेश के बाद इंडियन मेडिकल एसोसिएशन (आईएमए) के महासचिव ने कहा था, “अगर कार्यान्वयन सम्बन्धी बारीकियों को अलग रख दिया जाये तो नीट चिकित्सा पेशे के गौरवशाली अतीत को वापस लाने का काम करेगा। यानी वह दौर जब गरीब से गरीब घर का बच्चा भी प्रतिभा के दम पर डॉक्टर बन सकता था, वह दिन वापस आ जायेगा।

सुप्रीम कोर्ट का आदेश निजी मेडिकल कॉलेजों की लूट को बन्द करने की दिश में एक कदम था। संसद की स्थायी समिति का कहना है कि निजी मेडिकल कॉलेजों की अधिकांश सीटों के लिए 50 लाख रुपये या इससे भी अधिक रकम डोनेशन के नाम पर छात्रों से वसूली जाती है। यह ट्यूशन फीस और अन्य खर्चों से अलग है जो गैर कानूनी है।

पिछले साल सभी मेडिकल कॉलेजों में कुल मिलाकर 49,900 सीटें थी, जिसमें 24,660 सीटें प्राइवेट मेडिकल कॉलेजों में थी, जो सभी लगभग पेमेन्ट सीट होती हैं। अगर एक सीट का दाम 50 लाख या इससे अधिक है तो समझा जा सकता है कि यह हर साल अरबों-करोड़ों का खेल है। अधिकांश मेडिकल कॉलेजों के मालिक राज्य या केन्द्रीय स्तर के बड़े नेता हैं। इसीलिए निजी मेडिकल कॉलेज मालिक और कुछ राज्य सरकारें सुप्रीम कोर्ट के फैसले के खिलाफ थे। इनके विरोध के बहाने केन्द्र सरकार इस आदेश को बदलना चाहती थी ताकी पुरानी व्यवस्था जारी रहे। सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले पर जिस तरह पक्ष-विपक्ष एकजुट हुए उससे उनकी आपसी साँठ-गाँठ का भी पता चलता है।

देश के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय से सम्बद्ध स्थाई समिति के प्रस्ताव को आईएमए के महासचिव की राय को तथा शिक्षा विशेषज्ञों के सुझावों और प्रस्तावों को दरकिनार कर शिक्षा का व्यवसायीकरण करने के पक्ष में अध्यादेश लाना शिक्षा के प्रति केन्द्र सरकार के रवैये का इजहार है। यह धनाढ्यों के लिए मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश के विशेषाधिकार को जारी रखनेवाला अध्यादेश है। यह पारदर्शिता की जगह घपलेबाजी के पक्ष में अध्यादेश है।



# नदी जल विवाद नासूर क्यों?

- मुकेश त्यागी

आने वाले विधानसभा चुनावों के पहले पंजाब की अकाली-भाजपा सरकार ने कांग्रेस के समर्थन से विधानसभा में सतलुज-यमुना लिंक नहर पर पहले के सारे समझौते तोड़ने का प्रस्ताव पास करा लिया। इस मुद्दे पर आम आदमी पार्टी का भी समर्थन है क्योंकि पंजाब के भावी चुनाव को देखते हुए इस संवेदनशील मुद्दे पर सही अवस्थिति अपनाकर वह अपना नुकसान नहीं चाहती। दूसरी और हरियाणा की दम तोड़ती क्षेत्रीय पार्टियों को उम्मीद है कि यह विवाद उनमें नया जोश भर सकता है। इसने फिर से देश के विभिन्न हिस्सों में इस प्रकार के नदी जल विवादों और उनके कारण क्षेत्रीय आधार पर जनता के विभिन्न समुदायों के बीच वैमनस्य के दोहराये जाने की आशंका को जन्म दे दिया है। यहाँ याद रहे कि स्वयं सतलुज-यमुना नहर का मुद्दा ही चंडीगढ़ और अबोहर-फाजिल्का के साथ 1970 से 90 के दशकों में पंजाब की खूनी खालिस्तान मुहिम में बेहद अहम भूमिका अदा कर चुका है, जिसमें भारी संख्या में निर्दोष नागरिकों की जान गयी थी और हिन्दुओं-सिक्खों के बीच भारी वैमनस्य पैदा हुआ था।

असल में भारत जैसे बड़े भूभाग में विभिन्न भाषा-भाषी और अलग-अलग बनती-बिगड़ती राजकीय इकाइयों से एक होकर बनने वाले एक बहुराष्ट्रीय देश में, और खासकर स्वतंत्रता के बाद राज्यों के गठन-पुनर्गठन के दौरान वहाँ संसाधनों के बँटवारे को लेकर ऐसे विवाद पैदा होना अपने आप में आश्चर्यजनक घटना नहीं है। लेकिन एक जनतांत्रिक राज्य व्यवस्था में इन विवादों को न्यायपूर्ण और तर्कसंगत

आधार पर सुलझा लिया जाना चाहिए था। और इस काम में राज्य के सभी अंगों-विधायी, प्रशासनिक और न्यायालयों को एक फौरी लेकिन सुचिन्तित, सन्तुलित और तर्कसंगत भूमिका निभाने की जरूरत थी जिससे यह विवाद समय पर हल कर लिए जाते और नासूर बन कर विभिन्न जन समुदायों में वैमनस्य पैदा न करते।

ऐसा भी नहीं है कि भारतीय राज्य के नेतृत्व में ऐसा करने की क्षमता नहीं रही, क्योंकि अन्तर-राज्य विवादों के मुकाबले कहीं अधिक जटिल अन्तरराष्ट्रीय विवादों को यह नेतृत्व सुलझाता रहा है, सिर्फ उन देशों के साथ ही नहीं जिनसे अच्छे सम्बन्ध रहे, बल्कि उन देशों के साथ भी जिनसे भारत के तनावपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं और युद्ध लड़े जा चुके हैं। पाकिस्तान के साथ ही पंजाब-कश्मीर से होकर बहने वाली 6 नदियों के पानी का बँटवारा युद्धों के दौरान भी काम करता रहा है और मुश्किल से ही कभी विवादों के बारे में सुनने को मिला हो। बांग्लादेश के साथ तो वर्तमान सरकार ने ही तीस्ता नदी पर समझौता किया है और यहाँ तक कि एक-दूसरे के क्षेत्रों में पड़ने वाले करीब 200 भूभागों का लेनदेन भी वार्ता से ही हल कर लिया गया। नेपाल और भूटान के साथ भी ऐसी कोई समस्या नहीं आयी। यहाँ तक कि चीन के साथ भी सिंधु और ब्रह्मपुत्र पर उठने वाले मुद्दों को बगैर ज्यादा विवाद के सुलझा लिया गया है।

लेकिन इसके उलट देश के अन्दर विभिन्न राज्यों के बीच उठने वाले ऐसे विवादों पर विभिन्न सरकारों का रिकॉर्ड बेहद खराब रहा है। यह सिर्फ नदी जल विवाद का ही मामला नहीं है; चाहे

महाराष्ट्र-कर्नाटक के बीच बेलगाँव-बेलगावी के कुछ गाँवों का सवाल हो या पंजाब-हरियाणा के बीच अबोहर-फाजिल्का के इलाके या राजधानी चंडीगढ़ का सवाल, इन मुद्दों को समय पर हल करने के लिए कोई तर्कसंगत प्रयास किये जाने के बजाय न सिर्फ इन्हें नासूर बनने दिया गया है बल्कि इनका इस्तेमाल विभिन्न जनसमुदायों के बीच वैमनस्य फैलाने के लिए किया जाता रहा है।

अगर हम विभिन्न राज्यों के बीच नदी जल विवादों पर ही ध्यान दें, तो पायेंगे कि अगर उचित समय में, मामले को लटकाये बिना, न्यायपूर्ण और तर्कसंगत आधारों पर इन विवादों का हल किया जाता तो इनके कारण विभिन्न जनसमुदायों में वैमनस्य भड़कने से रोका जा सकता था। इस हेतु 1956 में ही, राज्य पुनर्गठन के पहले ही इन विवादों की आशंका को देखते हुए संविधान की धारा 262 के तहत अन्तर-राज्यीय नदी जल विवाद कानून बनाया गया था, जिसमें इनके समाधान का ढाँचा भी बनाया गया था। लेकिन अगर हम कावेरी-काबिनी, रावी-व्यास, गोदावरी, कृष्णा, नर्मदा, यमुना, बराक, कर्मनाशा, आदि विभिन्न नदी जल विवादों का थोड़ा विस्तार से अध्ययन करें तो पायेंगे कि ज्यादातर मामलों में ऐसा करने के बजाय समाधान को टाला गया, विवादों को नासूर बनने दिया गया और इनका इस्तेमाल चुनावी फायदों के लिए विभिन्न जनसमुदायों में ध्रुवीकरण करने के लिए किया गया।

उदाहरण के लिए हम कावेरी जल विवाद को थोड़ा विस्तार से देखते हैं- विवाद के बिंदुओं को नहीं बल्कि विवाद को हल करने के तरीके को। इस नदी के



जल के बँटवारे के लिए 1924 में तत्कालीन मैसूर राज्य और मद्रास प्रेसीडेंसी के बीच 50 वर्ष के लिए एक समझौता हुआ था। इसी बीच राज्य पुनर्गठन की वजह से इस नदी जल के बँटवारे में चार नये राज्य - तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल और पुडुचेरी शामिल हो गये। इस परिस्थिति में जबकि नये राज्य अस्तित्व में आ चुके थे और पुराना समझौता भी 1974 में समाप्त होने वाला था, उपयुक्त यह होता कि कानून के अनुसार तुरन्त एक ट्रिब्यूनल का गठन कर बगैर देर किये फिर से नया न्यायसंगत जल बँटवारा किया जाता। लेकिन विभिन्न दलों की सरकारें आती और जाती रहीं, मौके पर स्थितियाँ बदलती रहीं और विभिन्न राज्य अपने हिसाब से कदम उठाकर विवाद बढ़ाते रहे; लेकिन समाधान का कोई कानून संगत प्रयास नहीं किया गया। अन्त में 1990 में उच्चतम न्यायालय के आदेश पर ही कावेरी नदी जल ट्रिब्यूनल का गठन हुआ।

अर्थात् ट्रिब्यूनल का गठन ही तब हुआ जब विवाद भयंकर रूप से बढ़ चुका था और इसको लेकर कन्नड़ एवं तमिल भाषी समुदायों में आपसी वैमनस्य पैदा किया जा चुका था। नतीजा 1991 में इसके अन्तरिम निर्णय को कर्नाटक द्वारा मानने से इनकार, अध्यादेश, सुप्रीम कोर्ट में फिर मुकदमा और कन्नड़-तमिल दंगे! इस सब के बाद भी भारतीय शासन तंत्र के रवैये में कोई सुधार नहीं हुआ, ट्रिब्यूनल बगैर किसी गम्भीरता के कार्य करता रहा और 1995-96, 2002, फिर 2003 से 2007 तक विभिन्न किस्म की समस्याएँ पैदा होती रही, सियासी पार्टियाँ अपने तरीके से उनका फायदा उठाती और जन समुदायों को आपस में लड़ाती रहीं। लेकिन ट्रिब्यूनल ने पूरे 17 वर्ष लगाकर 2007 में ही अपना फैसला दिया। लेकिन तब तक इन राज्यों की सामाजिक आबो-हवा में इतना जहर घोला जा चुका था कि विवाद हल होने के बजाय फिर से सुप्रीम कोर्ट में मुकदमेबाजी चालू हो गयी।

अन्य विवादों में भी ऐसी ही स्थितियाँ

रही हैं। सतलुज-यमुना विवाद को ही लीजिये। हरियाणा राज्य के गठन के वक्त जो फैसले किये गये थे उन्हें समय पर लागू करने के बजाय लटका कर रखा गया जबकि उस समय केन्द्र, पंजाब और हरियाणा तीनों जगह एक ही पार्टी— काँग्रेस की सरकार होती थी। इसे तब तक नासूर बनने दिया गया जब तक कि इसका इस्तेमाल कर दोनों राज्यों की जनता में भावनाएँ भड़काने का आधार तैयार नहीं हो गया। पंजाब में खालिस्तानी दौर की समाप्ति के बाद भी सुप्रीम कोर्ट के निर्णय और समझौतों के आधार पर पर इसको हल करा लेने का काफी समय था, नहर पर ज्यादातर काम किया जा चुका था, उसके लिए किसानों को मुआवजा दिया चुका था और कोई वास्तविक विवाद अस्तित्व में नहीं था। लेकिन अब जबकि फिर से केन्द्र और दोनों राज्यों में एक ही पार्टी -बीजेपी की सरकार है, जानबूझकर अगले चुनाव की दृष्टि से इस मामले को फिर से कब्र से निकाल कर खड़ा कर दिया गया है। इसके नतीजे फिर से भयावह हो सकते हैं।

आइये देखें कि असली समस्या फिर कहाँ है? असल में, 1947 में भारत की सत्ता में आया पूँजीपति वर्ग गुलामी के दौर में क्रान्तिकारी तरीके से नहीं, विदेशी सत्ता से समझौते के तरीके से पला-बढ़ा हुआ वर्ग है। यह वर्ग शुरू से ही धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र, आदि के भेदभावों को खत्म कर व्यापक जनता की एकता स्थापित करने से भयभीत रहा वर्ग है। इसे अपने जन्म से ही डर था कि अगर जनता की ऐसी व्यापक एकता कायम हुई तो यह न सिर्फ विदेशी शासकों के लिए बल्कि खुद इस पूँजीपति वर्ग के लिए भी खतरे की घंटी बन जायेगी। इसलिए यह वर्ग कभी भी जनसमुदायों के बीच वैमनस्य के कारणों को दूर करने के लिए आगे नहीं आया बल्कि इनको और हवा-पानी ही देता रहा है। 1947 में सत्ता में आने के बाद तो यह वर्ग जन आन्दोलनों के खतरों से और भी बुरी तरह भयभीत है और विभिन्न समुदायों में वैमनस्य और फसाद

पैदा करने के लिए हर तरीके का इस्तेमाल करता आया है। इन विवादों के न्यायसंगत समाधान में इसकी कोई दिलचस्पी नहीं है। इसलिए इस वर्ग की सारी सियासी पार्टियाँ इन विवादों को सुलझाने में भूमिका निभाने के बजाय हमेशा इनका इस्तेमाल शत्रुतापूर्ण भावनाएँ भड़काने और अपने वोट बैंक को बढ़ाने में करती हैं। यही भूमिका कमोबेश शासन तंत्र के अन्य अंग— नौकरशाही, पुलिस, अदालतें और मीडिया भी निभाते हैं ताकि जनता के विभिन्न समुदायों में एकता को स्थापित करने से रोका जा सके और न्यायोचित जन आन्दोलनों के खिलाफ इस जहर का इस्तेमाल किया जा सके।



## djeu dh xfr U;kjh

कर्ज की हमको दवा बतायी  
कर्ज ही थी बीमारी

साधो! करमन की गति न्यारी।  
गँहूँ उगे शेयर नगरी में  
खेतों में बस भूख उग रही  
मूल्य सूचकांक पे चिड़िया  
गाँव-शहर की प्यास चुग रही  
करखानों में हाथ कट रहे  
मकतल में त्योहारी

साधो! करमन की गति न्यारी।  
बढ़ती महँगाई की रस्सी  
ग्रोथ रेट बैलेंस बनाये  
घट-बढ़ के सर्कस के बाहर  
भूखों का दल खेल दिखाये  
मेहनत-किस्मत-बरकत बेचें  
सरकारी व्योपारी

साधो! करमन की गति न्यारी।  
शहर-शहर में बरतन माँजे  
भारत माता ग्रामवासिनी  
फिर भी राशन कार्ड न पाये  
हर-हर गंगे पापनाशिनी  
ग्लोबल गाँव हुई दुनिया में  
प्लास्टिक की तरकारी

साधो! करमन की गति न्यारी।

-अंशु मालवीय

# तबाह होते बैंक, मालामाल होते पूँजीपति

--अमरपाल

**शराब व्यवसायी और** किंगफिशर एअर लाइन्स का मालिक विजय माल्या मुल्क के 17 बैंकों का 9500 करोड़ रुपये कर्ज हड़प कर भाग गया। चार साल से ये बैंक कर्ज लौटाने के लिए माल्या की खुशामद कर थे। चार-चार सरकारी एजेंसियों, प्रवर्तन निदेशालय, सेबी, एसएफआई (गम्भीर धोखाधड़ी जाँच कार्यालय) और सीबीआई जाँच में लगी थी। फिर भी वे माल्या का बाल बाँका नहीं कर पाये और अब जब माल्या विदेश भाग गया तो हाथ मल रहे हैं। दूसरी तरफ एक समाचार के मुताबिक कर्ज की मात्रा दो किस्त न चुकाने पर बैंक के एजेण्टों और पुलिस ने तमिलनाडु के तंजावर जिले के एक साधारण से किसान की बर्बर पिटाई की। इस किसान ने 2011 में निजी क्षेत्र के कोटेक महिन्द्रा बैंक से, ट्रैक्टर खरीदने के लिए 3 लाख 80 हजार 4 सौ 30 रुपये का कर्ज लिया था। उसने छमाही किस्तों में 4 लाख 11 हजार 2 सौ रुपये चुका भी दिये थे। बाकी की दो किस्त की वसूली के लिए बैंक एजेण्ट और स्थानीय पुलिस के सिपाहियों ने खेत में जाकर किसान को बेरहमी से पीटा और ट्रैक्टर भी छीनकर ले गये।

यह तो महज एक उदाहरण है, इस देश में खाद्य-बीज, गाय-भैंस के लिए 10-20 हजार रुपये के कर्ज और छात्रों द्वारा शिक्षा पर लिए गये कर्ज की वसूली के लिए बैंक के एजेण्ट पुलिस-प्रशासन के साथ मिलकर उन्हें डराने-धमकाने, अपमानित करने और पीटने तक से बाज नहीं आते। पुलिस इस वसूली में बैंकों के एजेण्ट की भूमिका निभाती है। लेकिन जब पूँजीपतियों से

कर्ज वसूलने की बात आती है तो पुलिस प्रशासन कर्ज वसूलने के बजाय पूँजीपतियों की चाकरी करने लगता है।

## सरकारी बैंकों के कर्ज का मर्ज

आज भारत के सार्वजनिक बैंकों के डूबे हुए कर्ज या गैर निष्पादित परिसम्पत्तियाँ (एनपीए) 5 लाख करोड़ रुपये तक पहुँच गयी जिसमें 3.50 लाख करोड़ रुपये पिछले 2 साल के अन्दर ही बुडन्त खाते में चला गया है। यह देश की अर्थव्यवस्था के लिए खतरे की घण्टी जैसा है। अर्थव्यवस्था की अच्छी सेहत के बैंकों का मजबूत होना जरूरी है जबकि सरकार बैंकों का विनिवेश कर रही है यानी बैंको का शेयर बेचकर पैसा बटोर रही है।

2008 की अमरीकी मन्दी के प्रभाव से भारतीय अर्थव्यवस्था बच गयी थी, तो उसका श्रेय सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की मजबूती को दिया रहा था। लेकिन आज सार्वजनिक बैंकों की कुल बाजार पूँजी का डेढ़ गुना एनपीए में चला गया है। अगर बैंकों के वो कर्ज भी शामिल कर दिये जाये, जो भविष्य में एनपीए घोषित हो सकते हैं, तो बुडन्त खाता कर्ज 8 लाख करोड़ के पार पहुँच जायेगा। हालत यही है कि “ज्यों-ज्यों दवा की मर्ज बढ़ता गया।”

आखिर इस रोग की वजह क्या है? इस रोग की जड़ है, नयी आर्थिक नीतियों का लागू होना जिन्हें वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के नाम से जाना जाता है। हमारी सरकार और सरकारी बैंक पूँजीपतियों पर मेहरबान है। कर्ज माफी, बट्टा खाता, राहत-अनुदान में वृद्धि ये बैंकों के बुरे कर्जों

को बढ़ाने में सहायक हैं। कभी मन्दी के नाम पर तो कभी कारोबार में घाटे के नाम पर, परियोजनाओं के ठप हो जाने के नाम पर तो कभी देश के विकास के नाम पर पूँजीपति अपने कर्ज नहीं चुकाते। इन्हीं उदार नीतियों के कारण आज भारत की मात्र 10 कम्पनियों पर बैंकों का 7.32 लाख करोड़ रुपये का कर्ज है, इस सूची में माल्या से भी बड़े-बड़े जमाखोरों के नाम हैं। 9500 करोड़ रुपये विजय माल्या, 20,000 करोड़ रुपये का कर्जा तो सिर्फ आलोक इन्डस्ट्री के सुरेन्द्र जिवराज और उसकी सबसिडियरीज के नाम बकाया है। कुछ पता नहीं कि इस कम्पनी ने उस पैसे से क्या किया। एस्सार स्टील कम्पनी पर 30 बैंकों का 3,40,000 करोड़ रुपये का कर्ज, अदानी ग्रुप एण्ड सन्स, अदानी पावर के ऊपर 72,000 करोड़ रुपये का कर्ज अभी भी बकाया है। इसके अलावा इस सूची में सुजलॉन एनर्जी, हिन्दुस्तान कंस्ट्रक्शन और लेंको जैसी कम्पनियों के नाम हैं। जिन पर बैंकों का 5 लाख करोड़ रुपये का कर्ज है।

इस देश के सभी किसानों पर कुल मिलाकर सिर्फ 72 हजार करोड़ रुपये का कर्ज है, इतना तो सिर्फ अदानी के ऊपर है, क्योंकि नरेन्द्र मोदी की इन पर विशेष मेहरबानी है। मोदी की चीन, जापान, यूरोप, ब्रिटेन और अमरीका की यात्रा पर गौतम अदानी साथ थे। गुजरात हाईकोर्ट की फटकार के बावजूद अदानी को सेज की मंजूरी दी गयी। पिछले 3 साल में अदानी की कम्पनी को लगातार 85 फीसदी मुनाफा हुआ, फिर भी अपने कर्ज के

भुगतान में वह आनाकानी करता है।

हमारे देश में ऋण वसूली के लिए गिरफ्तारी से लेकर कुर्की और जब्ती तक अनेक प्रावधान हैं। इसके बावजूद हमारी सरकार और बैंकों के निदेशक कर्ज वसूलने में विफल हैं। बैंक निदेशकों और सरकार की यह चुप्पी इनके बीच आपसी साँठ-गाँठ और याराना पूँजीवाद का नतीजा है।

## सबकुछ जानते हुए भी कर्ज दिया

माल्या की आखिरी उड़ान के बाद बैंकों के अधिकारियों और संसद में नेताओं के हो-हल्ले में यह बात दब सी गयी कि बैंकों ने जब माल्या को कर्ज दिया था, तब उन्हें पता था कि वह अपना पुराना कर्ज नहीं चुका रहा है। फिर भी सभी बैंक माल्या को कर्ज देने को तैयार था। माल्या की किंगफिशर एअरलाइन्स घाटे में चल रही थी यह भी उन्हें पता था। यहाँ तक कि किंगफिशर एअर लाइन्स अपने कर्मचारियों को समय से वेतन भी नहीं दे रही थी, जिसके चलते कर्मचारी अपने बकाये और छँटनी के खिलाफ आन्दोलन कर रहे थे। इस बीच माल्या ने यूनाइटेड स्पिरिट की अपनी हिस्सेदारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को 515 करोड़ रुपये में बेच दी और उसके चैयरमैन का पद छोड़ने पर राजी हो गया। तभी यह अन्देश था कि माल्या अपना सब कुछ समेट कर विदेश भागने की फिराक में है, उसके बावजूद बैंकों ने माल्या की कम्पनी के बही-खातों की जाँच-पड़ताल किये बगैर 950 करोड़ रुपये के नये कर्ज दे दिये और तो और 90 करोड़ के बंगले के ऊपर 7,800 करोड़ रुपये का कर्ज दिया गया। कर्ज न चुकाने वाली दूसरी कम्पनियों को भी बैंकों ने एक-दो बार नहीं, नौ-नौ बार कर्ज दिया। कर्ज मंजूरी की शर्तों को नजरन्दाज करना पूँजीपतियों पर बैंकों की मेहरबानी का खास नमूना है।

## बैंकों के निदेशकों और नेताओं की पूँजीपतियों के साथ साँठ-गाँठ

बैंकों के साथ-साथ हमारे नेताओं

और सरकार ने भी विजय माल्या के प्रति कम भक्ति नहीं दिखायी है। विजय माल्या को राज्य सभा में पहुँचाने वालों में जनता दल एस सिर्फ 7 सीटों का ही जुगाड़ कर पा रही थी, तब शेष 34 वोट की कमी भाजपा द्वारा पूरी की गयी। माल्या के विदेश भागकर अपने आपको एनआरआई घोषित करने के बावजूद सरकार ने उसकी राज्यसभा की सदस्यता रद्द नहीं की, साथ ही देश के जिम्मेवार लोगों की टिप्पणियाँ और शासन-प्रशासन का ढीला-ढाला रुख भी पूँजीपतियों से उनकी मिलीभगत और गठजोड़ की पोल खोलते हैं। जैसे, विजय माल्या के देश से अचानक चले जाने को लेकर विदेश मंत्रालय ने कहा कि उसे माल्या के खिलाफ कोई कार्रवाई करने के लिए नहीं कहा गया है। प्रवर्तन निदेशालय (ईडी) ने आईडीबीआई बैंक के पूर्व मुखिया योगेश अग्रवाल से पूछा कि किंगफिशर एअरलाइन्स की कर्ज चुकाने में खराब रिकार्ड के बावजूद इतनी बड़ी रकम (9500 करोड़ रुपये) क्यों दी? इस पर उनका कहना था कि नफा-नुकसान तो कारोबार का हिस्सा है। अरूण जेटली और रिजर्व बैंक गवर्नर रघुराम राजन इस मसले पर खामोश रहे। सीबीआई ने लुकआउट सर्कुलर बदल दिया। अटॉर्नी जनरल मुकुल रोहतगी ने सुप्रीम कोर्ट को बताया कि माल्या के खिलाफ लुक आउट सर्कुलर जारी किया गया था, लेकिन वह देश छोड़कर भाग गया। शायद वे यह भूल गये कि 16 अक्टूबर 2015 को लुकआउट सर्कुलर जारी करके खुद सीबीआई ने बताया था कि यदि माल्या देश छोड़ने का प्रयास करेगा तो बाहर निकलने के रास्ते पर उसे हिरासत में ले लिया जायेगा। लेकिन 16 अक्टूबर 2015 से लेकर 2 मार्च 2016 के बीच विजय माल्या चार विदेश यात्राओं पर गया, क्योंकि एक महीने बाद ही सीबीआई ने लुकआउट सर्कुलर यह कहकर बदल दिया कि किसी जूनियर अधिकारी ने गलत लुकआउट सर्कुलर जारी कर दिया था।

जाहिर है कि आपसी मिलीभगत से माल्या को भागने दिया गया और सरकार

अब कह रही है कि हम माल्या को नहीं बक्शेंगे, उस पर कठोर कार्रवाई करेंगे, माल्या का वापस प्रत्यार्पण करायेंगे। क्या सरकार की बात पर विश्वास किया जा सकता है?

## भारत का ब्रिटेन से प्रत्यार्पण का अब तक का रिकार्ड

भारत का अब तक ऐसा कोई रिकॉर्ड नहीं जिसमें भगोड़ों का ब्रिटेन से प्रत्यार्पण किया गया हो। संगीतकार नदीम-श्रवण की जोड़ी वाला नदीम, जिस पर गुलशन कुमार की हत्या का आरोप है, भागकर ब्रिटेन चला गया था। आज तक सरकार उसका प्रत्यार्पण नहीं करा पायी। आईपीएल (इण्डियन प्रीमियर लीग) का पूर्व कमिश्नर ललित मोदी घोटाला करके ब्रिटेन भाग गया। विदेश मंत्री सुषमा स्वराज ने उसे पत्नि के इलाज के बहाने मानवता के नाम पर भगा दिया था। संसद में हो-हल्ला होने के बाद मामला ठण्डा पड़ गया। जब आज तक इन अपराधियों का प्रत्यार्पण नहीं हो पाया, तो क्या विजय माल्या का प्रत्यार्पण हो पायेगा?

पहले देश से भागने का रास्ता देना, फिर पकड़ो-पकड़ो और भाग गया-भाग गया का शोर मचाना। उसके बाद चिल्ला-चिल्लाकर कहना कि हम कार्रवाई करेंगे, देश की एक-एक पाई वसूलेंगे। यह साँप के बिल में घुसने के बाद लाठी पीटने जैसी बात है।

सवाल यह है कि जो अभी भागे नहीं हैं, और जिनके ऊपर विजय माल्या से सात-आठ गुणा तक बकाया कर्ज है, क्या हमारी सरकार और बैंक उनसे दिया हुआ कर्ज वसूल पायेंगे।

## लूटना और साधु बने रहना

जब सुप्रीम कोर्ट ने रिजर्व बैंक को निर्देश दिया कि 500 करोड़ रुपये से ऊपर कर्ज लेकर न देने वाले जितने भी पूँजीपति हैं उनके नाम सौंपे तो के इस आदेश की गूँज बैंकों और पूँजीपतियों के चैम्बरों तक पहुँची। जब विजय माल्या और किंग फिशर

एअर लाइन्स को विलफुल डिफाल्टर (इरादतन चूककर्ता) घोषित किया गया, तो उद्योग एवं वाणिज्य संगठन एसोचैम नाराज हो गया और कहा कि “विलफुल डिफाल्टरों के नाम पर कुछ चुनिन्दा उद्योगों (पूँजीपतियों) को बदनाम करने का अभियान चलाया जा रहा है।” उसका मानना था कि- “वैश्विक मन्दी, खराब प्रशासन तथा अदालती फैसलों के दबाव के बीच इस्पात, ऊर्जा तथा ढाँचागत उद्योग जैसे क्षेत्रों को विलफुल डिफाल्टर के रूप में चिन्हित किया जा रहा है। एसोचैम ने कहा कि जोखिम वाली परिसम्पत्ति से निपटने के लिए किसी कम्पनी या व्यक्ति को उदाहरण के रूप में पेश नहीं किया जाना चाहिए।

इस बयान से जाहिर है कि एसोचैम की नजर में विजय माल्या को बदनाम किया जा रहा है। स्टील कम्पनी एस्सार और इसके प्रबन्धक रूड्या बन्धुओं को भी बदनाम किया जा रहा है।

दरअसल इन्हें ज्यादा से ज्यादा मुनाफा चाहिए। ऊपर से ये अपने सभी कर्ज माफ कराना चाहते हैं। मन्दी के नाम पर सरकार से सहायता पैकेज लेना चाहते हैं, नाम मात्र के करों में भी छूट चाहते हैं। विकास के नाम पर ये सिर्फ अपने विकास लिए ही सोचते हैं इसलिए सुप्रीम कोर्ट के एक आदेश से ये तिलमिला गये हैं। जब सरकार ने किसानों के कर्ज माफ किये थे तो उसकी आलोचना में इन पूँजीपतियों ने कहा था कि इससे देश की अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पड़ता है, राजस्व का नुकसान होता है, राजकोषीय घाटे में इजाफा होता है। ये पूँजीपति किसानों को दी जाने वाली सब्सिडि का विरोध करते हैं, लेकिन खुद लाखों करोड़ों डकार कर भी जुबान नहीं खोलते। यहाँ तक कि नाम बताने में भी अपमान महसूस करते हैं। इसे कहते हैं-- चोरी और सीना जोरी। क्या पूँजीपतियों के कर्ज न चुकाने से, इनके कर्ज बटूटे खाते में डालने से और कर्ज माफ करने से अर्थव्यवस्था पर प्रभाव नहीं पड़ेगा? राजस्व में नुकसान नहीं होगा? क्या राजकोषीय घाटे में इजाफा नहीं होगा?

सवाल यह भी है कि जब किसान कर्ज में फँसते हैं, तो क्या उनकी मजबूरी नहीं होती। सूखा, बाढ़, ओलावृष्टि के चलते फसल बर्बाद होना, लागत का बढ़ना, फसल का दाम न मिलना या छात्रों का शिक्षा कर्ज नौकरी न मिलने के चलते न चुका पाना क्या उनकी मजबूरी नहीं? क्या किसान-मजदूर, छात्र-नौजवान देश के विकास और उन्नति के लिए काम नहीं करते हैं? लेकिन सरकार की मेहरबानी केवल मुट्ठी भर अमीरों पर ही होती है। उनके फायदे के लिए ही सारे कायदे कानून बनते हैं। इसी के चलते अमीर-गरीब के बीच की खाई चौड़ी होती है। यह भयानक असमानता देश में उथल-पुथल की जमीन तैयार कर रही है।

## पृष्ठ 45 का शेष...

लौह अयस्क कम्पनी बनायी। एक और नाम है रियल एस्टेट ग्रुप इंडिया बुल्सो के प्रमोटर समीर गहलोत का। 2014 में समीर उनके पिता बलवान सिंह और भाई नागेन्द्र तब चर्चा में आये जब उन्होंने लंदन में 87444 स्क्वायर फीट जमीन खरीदी थी। इनकी तीन फर्म ब्रिटेन, बहामास और न्यूजर्सी में बतायी गयी है। एक नाम प्रभाष सांखला, सेवानिवृत्त सरकारी अधिकारी का भी है। पनामा पेपर्स के अनुसार वे लोटस हॉरिजोन एस कम्पनी में डायरेक्टर हैं। इसमें उनका नाम और पता दर्ज है। साथ ही उनकी बेटी और दामाद का नाम भी इसमें दर्ज है। इस बारे में पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि मैं केवल मानद डायरेक्टर हूँ। मेरे दामाद की कनाडा और अमरीका में एविएशन कम्पनी है। मेरा इससे कोई लेना-देना नहीं है। नोटिस मिलेगा तो जवाब दे दूँगा।

टैक्स चोरों के स्वर्ग में, यानी देश से बाहर पूँजी निवेश से देश का दोहरा नुकसान होता है। पहला यह कि जो धन वे विदेश ले जाते हैं, वह पक्के तौर पर काला धन होता है। दूसरे वे टैक्स हेवेन में कम्पनी रजिस्टर्ड कराकर हमेशा-हमेशा के लिए अपने देश की सरकार को टैक्स देने से छुटकारा पा जाते हैं। गजब यह कि इन हस्तियों को सरकार सर-आँखों पर बिठाती है और पद्म पुरस्कारों से विभूषित करती है। जिनका काला धन विदेशों में है, देश में वास्तव में उनकी ही सरकार है। ऐसे में सवाल यह उठता है कि इस खुलासे से क्या हासिल होगा? लोकसभा चुनाव में विदेशों में जमा काले धन की वापसी का बहुत शोर था। सत्ता में आने के सौ दिनों के भीतर काला धन वापस लाने और हर गरीब भारतीय के खाते में पन्द्रह लाख रुपये जमा कराने का वादा तो नरेन्द्र मोदी पूरा नहीं कर पाये, काले धन का पता लगाने के लिए एक एसआईटी का गठन भी सुप्रीम कोर्ट की मेहरबानी से हुआ जिसने एसआईटी के गठन के लिए समय-सीमा पहले से तय कर रखी थी। हाँ, सरकार ने पिछले साल काला धन सफेद करने की एक योजना जरूर पेश की। इसके तहत विदेश में जमा अघोषित सम्पत्ति या धन की घोषणा तीन महीने के भीतर करके और उस पर टैक्स चुका कर माफी पायी जा सकती थी। उम्मीद की जा रही थी कि इस योजना से बड़ी मात्रा में काला धन सामने आयेगा। पर चार हजार करोड़ रुपये से कम की ही राशि घोषित हुई, यानी बड़ी मछलियाँ इस योजना में शामिल नहीं हुईं। क्या वास्तव में उनके साथ वैसी ही सख्त कार्रवाई होगी, जिसका प्रावधान संशोधित कानून में है? सरकार के कृपापात्र लोगों के मामलों में कानून किस तरह से काम करता है, यह किसी से छिपा नहीं है।

## पनामा पेपर्स : टैक्स चोरों में भारतीय नाम

**पनामा की लॉ** फर्म मोसाक फॉसेका के लीक हुए दस्तावेजों में दुनियाभर के कई नामीगिरामी लोगों के नाम हैं। पनामा पेपर्स के नाम के इस लीक के जरिये यह खुलासा हुआ है कि कई दिग्गजों ने टैक्स चोरों के स्वर्ग (टैक्स हेवन देशों) में गोपनीय फर्म खोली हैं। इसके लिए वे मोसाक फॉसेका की सेवा लेते हैं। इस खुलासे में एक करोड़ दस लाख खाते सामने आये हैं जिनमें भारत, चीन, रूस, पाकिस्तान और अफ्रीका व दक्षिण अमरीका के कई देशों के नेताओं, पूँजीपतियों, फिल्मि स्टार और खिलाड़ियों के नाम हैं।

देश से बाहर जमा काले धन जमा को लेकर पहले भी खुलासा हुआ है। काँग्रेस की गठबन्धन सरकार के समय फ्रांस ने कुछ भारतीयों के स्विट्जरलैंड में गुप्त खातों की जानकारी दी थी। इसी तरह जर्मनी ने भी एक अन्य 'टैक्स हेवन' देश में खोले गये गुप्त खातों के बारे में बताया था। इसके बाद एचएसबीसी के खाते लीक हुए। लेकिन यह शायद अब तक का सबसे बड़ा खुलासा है, जो खोजी पत्रकारों के एक अन्तरराष्ट्रीय संगठन 'इंटरनेशनल कंसर्टियम ऑफ़ इनवेस्टिगेटिव जर्नलिस्ट्स' (आईसीआईजे) की गहरी छानबीन का नतीजा है। पनामा पेपर्स के नाम से जारी किये गये ये खुलासे बताते हैं कि काले धन का जाल कितना विराट है। इस सूची में रूस के राष्ट्रपति व्लादीमिर पुतिन, पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ और चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिंग के करीबियों से लेकर मिस्र के पूर्व राष्ट्रपति हुस्नी मुबारक तक के नाम हैं। आईसीआईजे ने मध्य अमरीकी देश पनामा में स्थित दुनिया की चौथी

सबसे बड़ी लॉ फर्म मोसेक फॉसेका के दस्तावेजों की छानबीन के आधार पर जो रिपोर्ट जारी की है, उसने दुनिया भर को अचरज में डाल दिया है। जो धन्धा पूरी तरह चोरी-छिपे चलता है, उसके दस्तावेज हासिल करना और उनको उजागर करना सचमुच हैरत की बात है।

इन दस्तावेजों में 500 भारतीयों के नाम हैं जिसमें एक नाम कुशल पाल सिंह का है जो रियल एस्टेट कम्पनी डीएलफ के प्रमोटर हैं। उनकी पत्नी इन्दिरा उस कम्पनी (वाइल्डर लिमिटेड) में शेयर होल्डर हैं जो ब्रिटिश वर्जिन आइलैंड्स में रजिस्टर्ड है। एक समय रॉबर्ट वाड्रा के साथ जमीन की खरीद-बिक्री को लेकर उनका नाम चर्चा में आया था। 2011 में फोर्ब्स की 'धनाढ्य लोगों की सूची' में वे 130 वें नम्बर पर थे। दूसरा महत्वपूर्ण नाम अमिताभ बच्चन का है, जिनको चार कम्पनियों का डायरेक्टर बनाया गया था। इनमें से तीन बहामास में थीं, जबकि एक वर्जिन आइलैंड्स में। 1993 से चल रही इन कम्पनियों की अधिकृत पूँजी 5 हजार से 50 हजार डॉलर के बीच थी, लेकिन ये कम्पनियाँ उन मालवाहक जहाजों का कारोबार कर रही थीं, जिनकी कीमत करोड़ों में थी। ऐश्वर्या राय को पहले एक कम्पनी का डायरेक्टर बनाया गया। बाद में उन्हें कम्पनी का शेयर होल्डर घोषित कर दिया गया। कम्पनी का नाम अमिक पार्टनर्स प्राइवेट लिमिटेड था। इसका हेडक्वार्टर वर्जिन आइलैंड्स में था। ऐश्वर्या के अलावा पिता के राय, माँ वृन्दा राय और भाई आदित्य राय भी कम्पनी में उनके साझीदार थे। यह कम्पनी 2005 में बनायी

गयी थी और तीन साल बाद यानी 2008 में बन्द हो गयी थी। ऐश्वर्या का नाम छुपाने के लिए उनका नाम केवल ए राय रखा गया। इस सूची में जूट और चाय का कारोबार करने वाले कोलकाता के सबसे पुराने व्यापारियों में से एक शिशिर के बाजोरिया भी शामिल हैं। वे एस बी बाजोरिया ग्रुप के प्रमोटर हैं और बाजोरिया हेप्टिक लिमिटेड के मालिक भी हैं। यह कम्पनी ब्रिटिश वर्जिन आइलैंड में स्थापित हुई है। इसकी स्थापना 2015 में मोसाक फॉसेका ने की थी। बाजोरिया पहले सीपीएम से जुड़े हुए थे, लेकिन अब वे भाजपा के सदस्य हैं। पिछले विधानसभा चुनावों में उन्होंने भाजपा का प्रचार भी किया। इस सूची में भारत के सबसे मशहूर वकीलों में से एक हरीश साल्वे का भी नाम है, जो 1999 से 2002 के बीच में देश के सॉलीसिटर जनरल रहे थे। पनामा पेपर्स के अनुसार साल्वे और उनके परिवार के तीन सदस्यों ने ब्रिटिश वर्जिन आइलैंड में तीन कम्पनियाँ रजिस्टर्ड करायी थीं। इनमें से एक कम्पनी में हरीश साल्वे निदेशक थे। जे एंड एस सिस्टम्स कॉर्पोरेशन (ब्रिटिश वर्जिन आइलैंड्स) के मालिक आंकार कंवर जिनकी कम्पनी अपोलो टायर्स बनाती है, उन्होंने 2010 में जे एंड एस कॉर्पोरेशन नाम से कम्पनी और 2014 में दो ट्रस्ट बनाये। इनका रजिस्ट्रेशन भी ब्रिटिश वर्जिन आइलैंड्स में है। भारत की लोकसत्ता पार्टी की दिल्ली शाखा के अध्यक्ष अनुराग केजरीवाल का नाम भी इस सूची में है। उन्होंने ब्रिटिश वर्जिन आइलैंड में 2007 में

**शेष पृष्ठ 44 पर...**

# इलाज के नाम पर लूट का कारोबार

-अजय गुप्ता

**आगरा के एक** डॉक्टर बहुत अनुभवी हैं और राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित भी हैं। उनकी फीस 700 रुपये है। अगर कोई मरीज एक घण्टे बाद भी दुबारा दिखाने जाये तो उसे फिर से फीस भरनी पड़ती है। उनके क्लीनिक पर नियमों का इतनी सख्ती से पालन होता है कि मरीज के मरने के बाद भी उसका मृत शरीर ले जाने की तब तक अनुमति नहीं, जब तक उसके परिजन पूरा हिसाब नहीं कर देते। यही हाल गोरखपुर के एक त्वचारोग विशेषज्ञ का है। पहले वे मेडिकल कॉलेज में काम करने के अलावा आवास पर फीस ले कर सुबह-शाम 100 से ज्यादा मरीज देखते थे। अब सेवानिवृत्त होने के बाद अपने दो बच्चों के साथ इस परिवार ने पीएंडजी क्लिनिक खोल रखा है। तीनों मिलकर दिन भर में 250 से ज्यादा मरीज देखते हैं। तीनों डॉक्टर अपने-अपने मरीज से 400 रुपये फीस के वसूलते हैं। इसके अलावा इनके यहाँ सर्जरी, लेजर थेरेपी और सिकाई की सुविधा उपलब्ध है। एक साधारण सर्जरी का वे 30 हजार से 50 हजार रुपये तक लेते हैं। क्लिनिक पर मेडिकल स्टोर भी है। मरीज वहीं से दवा लेने के लिए बाध्य होता है, क्योंकि इन डॉक्टरों की लिखी दवा किसी अन्य मेडिकल स्टोर पर नहीं मिलती। पूरे परिवार की एक दिन की कमाई 2 लाख से ऊपर है। गोरखपुर के एक अन्य डॉक्टर जो फीस नहीं लेते बल्कि दवाइयों के दाम ही लेते हैं। वे दवाइयों की पुड़िया बनाकर देते हैं और पर्चे पर दवाइयों के नाम इतना घसीट कर लिखते हैं कि उनके क्लीनिक के स्टाफ के अलावा कोई दूसरा नहीं पढ़ सकता।

कई डॉक्टर एक दिन में जितना कमाते हैं, उतना एक सामान्य मजदूर जिन्दगी भर हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद भी नहीं कमा

सकता। प्राइवेट क्लीनिक या अस्पताल में आने वालों से बात करें तो अधिकांश मरीज यह शिकायत करते हैं कि तीन-चार साल इलाज कराने के बाद भी बीमारी जड़ से खत्म नहीं हुई। निराश होकर जब वे दूसरे डॉक्टर के पास गये तो वहाँ भी उन्हें ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ा। कई मामलों में पैसे के लालच में इलाज को लम्बा खींचते रहने से मरीज की मौत भी हो जाती है। डॉक्टरों का एक सीधा सा तर्क है कि जब वे अपनी शिक्षा में लाखों रुपये खर्च करते हैं तो वह उस पैसे की भरपाई कहाँ से करें?

गोरखपुर के बाबा राघव दास मेडिकल कालेज के बर्न विभाग में इतनी ज्यादा दमघोंटू बढबू होती है कि स्वस्थ आदमी भी बीमार पड़ सकता है। एक बड़े से खुले हाल में 30-40 मरीजों को एक-एक बेड देकर लिटा दिया जाता है। साफ-सफाई की कोई खास व्यवस्था नहीं है। यही हाल प्रसूति विभाग का है। हाल में इतनी भीड़ और गन्दगी रहती है कि मरीजों को खाते-पीते समय उबकाई आ जाये। सफाई सिर्फ डॉक्टरों के केबिन और उनके आवास पर ही दिखायी देती है। यहाँ गरीब लोग आते हैं और खानाबदोशो की तरह भटकते हुए गली में, सीढ़ियों पर या रास्ते में मिल जायेंगे। वे बेहद घबराये हुए होते हैं। कई लोगों को तो अस्पताल के विभिन्न विभागों की जानकारी नहीं होती। अधिकांश अशिक्षित होते हैं, मेडिकल स्टाफ से जब कुछ पूछते हैं तो स्टाफ घुड़की दे देता है। रोगियों की लम्बी कतार होती है। जिसमें आगे निकल जाने के लिए लोग एक-दूसरे से धक्कम-पेल करते हैं। कुछ लोग लम्बी लाइन में चलते-चलते जब ओपीडी की खिड़की पर पहुँचने में कामयाब हो जाते हैं तो उन्हें पता चलाता है कि उनका डॉक्टर आज नहीं बैठेगा।

किसी और दिन आना पड़ेगा। मेडिकल कॉलेज के लगभग सभी डॉक्टर दो-तीन घण्टा वहाँ समाज सेवा करने के अलावा अपने आवास पर सुबह-शाम मरीजों को फीस लेकर देखते हैं।

एक नौजवान हाथ की हड्डी टूटने पर मेरठ मेडिकल कॉलेज में गया। सरकारी एक्स-रे मशीन से बेहद खराब एक्स-रे आया। उसके स्टाफ ने बताया कि कई सालों से इस मशीन की मरम्मत के लिए सरकार पैसे नहीं दे रही है। उस नौजवान को सलाह दी गयी कि परिसर में ही निजी पैथोलोजी की लैब है, जाकर वहीं से एक्स-रे करा ले। उस नौजवान ने 400 रुपये खर्च करके एक्स-रे करवाया। यह एक पीपीपी यानी पब्लिक-प्राइवेट-पार्टनरशिप का नमूना है। आगरा के मेडिकल कालेज की कई मशीनें लापरवाही के कारण कवाड़ बनती जा रही हैं जिनकी कीमत लाखों में होगी। हृदय रोग की दो ईको मशीनों का मरीजों के लिए इस्तेमाल नहीं हो सकता। इमरजेंसी वार्ड में जीवन रक्षक उपकरण खराब पड़े हैं, जिनकी महीनों से मरम्मत नहीं हुई है। कैंसर रोग विभाग में ब्रेकी थेरेपी मशीन भी लम्बे समय से खराब है। आगरा के जिला अस्पताल में एक्स-रे मशीन कक्ष के बाहर कोने में पड़ी है। एम्स जैसे मुट्ठीभर बेहतरीन अस्पताल को छोड़ दें तो यही तस्वीर देश के सभी सरकारी अस्पतालों की है। उनसे जनता का विश्वास उठ चुका है। फिर भी गरीबों के लिए यह डूबते को तिनके के सहारे जैसा है।

दूसरी ओर आपको जगह-जगह स्वर्ण जैसे अस्पताल भी देखने के लिए मिल जायेंगे। आधुनिक सुख-सुविधाओं और उच्च कोटि की टेक्नोलोजी से सुसज्जित इन अस्पतालों में विशेषज्ञ डॉक्टरों की टीम आपकी सेवा के

लिए लगातार बेचैन रहती है, बशर्ते आपकी जेब में मोटी रकम हो। नहीं तो दूर से सलाम। गरीब इन अस्पतालों के गेट की ओर भी नहीं देख सकते।

कॉलेज में झाड़ू-पोछा करने वाली एक महिला के पति को रात में दिल का दौरा पड़ा। उस समय उनकी उम्र 45 साल थी। वे बेहद मेहनती इनसान थे। उन्हें पास के स्वर्ग जैसे चमकते निजी अस्पताल में ले जाया गया। वहाँ उन्हें भर्ती करने से मना कर दिया गया, क्योंकि अस्पताल वालों ने कपड़े से उनकी हैसियत का अन्दाजा लगा लिया था। उन्हें पता चल गया कि वे महँगी फीस नहीं चुका पायेंगे।

पीपीपी का असली मतलब है कि प्राइवेट कम्पनियों को मुनाफा बटोरने की छूट। पर्यावरण को नुकसान पहुँचाकर बीमारियों को बुलावा देने की छूट। मरीज प्राइवेट अस्पताल में इलाज कराकर अपनी जेबें खाली करता है और प्राइवेट दवा कम्पनियाँ और मेडिकल के उपकरणों की कम्पनियाँ मालामाल हो रही हैं। लेकिन लोग क्या करें? निजी अस्पतालों में इलाज कराना उनकी मजबूरी बन गयी है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अनुसार ग्रामीण क्षेत्र के 71.7 फीसदी लोग और शहरी क्षेत्र के 78.8 फीसदी लोग निजी अस्पताल या डॉक्टर के पास जाते हैं। गरीब जनता छोटे-मोटे इलाज के लिए सरकारी अस्पतालों में जाती है लेकिन जानलेवा बीमारी के समय वह कर्ज लेकर प्राइवेट अस्पतालों का सहारा लेती है या महँगे डॉक्टरों के पास जाती है। दूसरी ओर सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी साख बनाये रखने के लिए एम्स और पीजीआई जैसे कुछ सरकारी अस्पतालों को बचाये रखा है। वहाँ इलाज की सुविधा कई मामलों में प्राइवेट अस्पतालों से भी बेहतर है और इलाज बहुत कम खर्च पर हो जाता है। लेकिन उनकी सीमित क्षमता के चलते ज्यादातर मरीज वहाँ तक पहुँचने के पहले या लम्बी कतार में लगे-लगे ही दम तोड़ देते हैं।

निजी अस्पतालों का व्यापार बहुत तेजी से बढ़ रहा है। एक प्रतिभाशाली नौजवान गोरखपुर के आँखों एक अस्पताल में बी-आप्ट का कोर्स कर रहे हैं, उनके अनुसार इस अस्पताल में मरीज देखने और ऑपरेशन की

सुविधा उपलब्ध है। सबसे ज्यादा कमाई आपरेशन से होती है। आँख का एक साधारण सा आपरेशन करने में 30,000-40,000 रुपये की कमाई हो जाती है। दवा का खर्च अलग है। एक दिन शाम को हिसाब करने पर दिनभर का कुल मुनाफा 89,000 आया। इसपर अस्पताल के मालिक ने स्टाफ को बुलाकर डाँटते हुए कहा कि तुम 15-20 लोग मिलकर एक दिन में एक लाख मुनाफा भी नहीं निकाल सकते। आगे अगर मुनाफा लाख से कम होगा तो तुम्हारे वेतन से काटकर भरपाई की जायेगी। इन अस्पतालों में काम करने वाले डॉक्टर ऊँचा वेतन पाने वाले मजदूर ही हैं। उन्हें इस बात की आजादी नहीं कि अपने दिल की आवाज सुनकर वे इमानदारी से अपना काम कर सकें और उस शपथ को निभा सकें जो डॉक्टरी की शिक्षा लेते समय उन्होंने ली थी।

प्राइवेट अस्पतालों में लूट का क्या आलम है इसके लिए कुछ नजीरें देखिये। एक किसान की टाइफाइड होने से जब हालत गम्भीर हो गयी, तब वाराणसी के एक प्राइवेट अस्पताल में उन्हें भर्ती कराया गया। उस अस्पताल में केवल भर्ती करने की सिक््युरिटी 30,000 रुपये थी। उसके बाद डॉक्टर की एक विजिट का खर्च 500 रुपये था। कुल मिलाकर 16-17 दिन भर्ती रहने पर उनके इलाज का बिल 70 हजार रुपये आया। इस इलाज के चलते खेत गिरवी रखना पड़ा और माँ के गहने भी बिक गये।

अगर कोई महिला डिलीवरी के लिए इन अस्पतालों की चपेट में आ जाये तो बिना ऑपरेशन के वे डिलीवरी नहीं करते। एक महिला डिलीवरी के लिए आगरा के एक अस्पताल में भर्ती हो गयी, जहाँ एक दिन के लिए कमरे का खर्च 7000 रुपये और डॉक्टर के एक विजिट का खर्च 500 रुपये था। बच्चे को वेंटीलेशन पर रखा गया था, जिसका एक दिन का चार्ज 8,000 रुपये था। आपरेशन और दवाइयों का खर्च अलग से था कुल मिलाकर एक दिन का खर्च 20,000 से ऊपर था।

दुनिया के सबसे बड़े लोकतन्त्र और विश्व-गुरु बनने की दौड़ में शामिल भारत में दुनिया के किसी भी अन्य देश से ज्यादा टीबी

के मरीज हैं। हर साल तीन लाख लोग टीबी से मर जाते हैं। टीबी से लड़ने के लिए सरकार ने 'डॉट्स' अभियान शुरू किया है। इसके कार्यकर्ताओं और मरीजों से बात करने पर पता चलता है कि दवाओं की कमी के चलते भारत में एक दिन छोड़कर दूसरे दिन मरीज को दवा दी जाती है। जबकि बांग्लादेश, पाकिस्तान और अन्य देशों में रोज दवा देने की व्यवस्था है। कई डॉट्स केन्द्रों पर मरीजों से दवा के बदले डॉक्टर पैसे भी वसूलते हैं, जबकि इस कार्यक्रम में दवा बिलकुल मुफ्त देने का प्रावधान है।

पूँजीपतियों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के चलते और वायुमंडल में प्रदूषित धुँआ और कचरा छोड़ने के कारण हवा, पानी और भोजन जहरीले होते जा रहे हैं। पर्यावरण प्रदूषण का फायदा उठाकर नये किस्म के बैक्टीरिया और हानिकारक जीवाणु सक्रिय हो रहे हैं। नयी-नयी बीमारियों की तादाद दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। हार्ट अटैक, ब्रेन हैमरेज और कैंसर जैसी खतरनाक बीमारियों का खतरा किसी की भी जिन्दगी को खत्म कर सकता है। इन बीमारियों के इलाज के नाम पर निजी अस्पतालों और दवा कम्पनियों की लूट बढ़ती जा रही है। अकूत मुनाफा कमाने वाले डॉक्टर और दवा कम्पनियाँ क्या यह चाहेंगे कि पर्यावरण का प्रदूषण खत्म हो जाये और वे अपनी दुकान पर बैठकर मक्खियाँ मारने लगें।

सरकार का एक एम्स खोलने में 1500-1600 करोड़ का खर्च आता है। 1990 के बाद से देशभर में 90 लाख करोड़ के घोटाले हुए हैं जिनमें जनता की मेहनत की गाढ़ी कमायी पूँजीपतियों और नेताओं ने मिलकर लूट खायी। अगर इसी पैसे को चिकित्सा क्षेत्र में लगाया जाता तो पूरे देश में 6,000 एम्स खोले जा सकते थे। यानी हर राज्य में 206 एम्स या हर जिले में 3 से अधिक एम्स होते। पूरे देश में चिकित्सा कोई बड़ा मुद्दा नहीं होता और देश के सभी नागरिक स्वस्थ और खुश होते। लेकिन लूटपरस्ती की व्यवस्था में भला यह कैसे सम्भव है?



# अगस्ता कम्पनी के हेलीकॉप्टर की खरीद में दलाली

--दिनेश कुमार

**फरवरी 2010** में काँग्रेस सरकार ने इटली की कम्पनी अगस्ता के साथ हेलीकॉप्टर की खरीद का सौदा किया था। पिछले दिनों इस मुद्दे पर संसद से लेकर सड़क तक काफी हो-हल्ला मचा। इस मामले में काँग्रेस अध्यक्ष सोनिया गाँधी का नाम भी आया है। इसके साथ ही इस घोटाले में भाजपा के करीबी पूर्व वायु सेना प्रमुख एस पी त्यागी और उनके चचेरे भाई भी आरोपों के घेरे में हैं। यह सौदा अगस्ता कम्पनी के 12 हेलीकॉप्टरों की खरीद के लिए किया गया था, जिनकी कुल कीमत 3600 करोड़ रुपये थी। 25 मार्च 2013 को रक्षा मंत्री ए के एंटनी ने स्वीकार किया था कि “हाँ हेलीकॉप्टर की दलाली में भ्रष्टाचार हुआ और घूस ली गयी, सीबीआई बहुत गहराई से मामले की छानबीन कर रही है।” काँग्रेस सरकार ने इस सौदे को रद्द कर दिया था। 8 अप्रैल 2016 को इटली की अदालत ने अगस्ता कम्पनी के मालिक ग्यूसेप ओरसी को 4 साल की कैद की सजा दी है। यह सजा उन्हें भारतीय नेताओं, प्रशासकों और वायु सेना के अधिकारियों को 227 करोड़ की घूस देने के आरोप में सुनायी गयी। इसके बाद ही मामला फिर से गर्म हो गया। भाजपा ने सोनिया गाँधी को घेरना शुरू कर दिया। लेकिन मामले में एक नया मोड़ तब आ गया, जब अगस्ता वेस्टलैंड हेलीकॉप्टर डील मामले में बिचौलिये के तौर पर बदनाम मिशेल ने दावा किया कि अगर भारत इतालवी मरीन को वापस नहीं लौटाता तो इटली के प्रधानमंत्री मोदी के उस वार्तालाप को सार्वजनिक कर देंगे, जिसमें उन्होंने सोनिया गाँधी के खिलाफ जानकारी माँगी थी। लगता है जैसे लाल चमकदार सतह के नीचे जख्म सड़कर नासूर बन गया हो।

दरअसल यह दलाली सैन्य कारोबार का सौयाँ हिस्सा भी नहीं है। कहते हैं बात निकलेगी तो फिर दूर तलक जायेगी। साम्राज्यवादी देशों की हथियार लॉबी बहुत ही शक्तिशाली है। अमरीका में यह लॉबी राष्ट्रपति के चुनाव में खुलकर खर्च करती है। राष्ट्रपति और विदेश मंत्री हथियार कम्पनियों के लिए दुनिया भर से ठेके जुटाया करते हैं। अमरीका सहित जी-सात के सभी देश दुनिया भर में हथियारों की होड़ बनाये रखने के लिए क्षेत्रीय तनाव और हिंसक कार्रवाइयों को भड़काते हैं। सीरिया, लीबिया, ईराक और अफगानिस्तान में सीधे हस्तक्षेप करके युद्ध का माहौल बनाया जाता है, जबकि भारत, पकिस्तान, पूर्वी यूरोपीय देशों और अफ्रीकी देशों में सीमा विवाद भड़काकर तनाव पैदा किया जाता है। अमरीका की खुफिया एजेंसी सीआईए आतंकवादी संगठनों को हथियार मुहैया कराने के मामले में दुनिया भर में बदनाम है। दूसरी ओर इन आतंकवादी संगठनों से लड़ने के लिए अमरीकी सरकार सीधे आतंकवाद प्रभावित देशों की सरकारों को हथियार मुहैया कराती है।

अमरीका भारत को भी हथियार बेचता है और पाकिस्तान को भी। यह तो कुछ उसी तरह है जैसे दो बिल्लियों की लड़ाई में बन्दर ने सारी रोटी गड़प कर ली थी।

नंदा परिवार, चौधरी ब्रदर्स, साहनी आदि भारत के सबसे चर्चित रक्षा दलाल हैं। ये लोग बहुत गोपनीय तरीके से काम करते हैं। इनका हथियारों के धंधे पर पूरी तरह इजारा कायम है। कोई नया व्यक्ति इस क्षेत्र में घुसने की हिम्मत भी नहीं कर सकता। नंदा परिवार पहले नौसेना से ताल्लुक रखता था, जो नौसेना में इस्तेमाल होने वाले विदेशी हथियार जैसे जहाज, पनडुब्बी, लड़ाकू विमान, तोपखाना आदि की दलाली का काम करता था। इसी परिवार के संजीव नंदा ने दिल्ली के बीएमडब्लू सड़क दुर्घटना कांड में कुछ मजदूरों और पुलिसवालों को कुचल कर मार दिया था और उन्हें जुमाने के साथ-साथ साल की कम्प्युनिटी सेवा का अनोखा दंड दिया गया था। अधिकांश रक्षा सौदागर सेना के उच्च पदों से रिटायर्ड अधिकारी होते हैं और उनकी कम्पनियों में जल, थल और नभ सेना के सेवानिवृत्त लोग नौकरी करते हैं। ये लोग सेना में अपनी पहुँच का फायदा उठाते हुए रक्षा सौदों की दलाली करते हैं।

रक्षा सौदों को पटाने का तरीका बहुत घृणित होता है। रक्षा सौदागर अपने गेस्ट हाउस और फार्म हाउस पर बेहतरीन सुविधा उपलब्ध कराते हैं। जिनसे डील करनी होती है कई बार उन्हें कॉल गर्ल्स भी भेजी जाती हैं, उनका सेक्स विडियो बनवा लिया जाता है। भविष्य में ब्लैकमेल करने के लिए उनका इस्तेमाल होता है। कुछ रक्षा सौदागर इतने ताकतवर हैं कि वे ईमानदार अधिकारियों को हटवाने का काम भी करते हैं। पूर्व नौसेना प्रमुख विष्णु भागवत ने अपनी एक किताब में खुलासा किया है कि एक बड़े रक्षा दलाल ने उन्हें पद से हटवा दिया था। 30 दिसम्बर 1998 को भाजपा की केन्द्र सरकार ने विष्णु भागवत को पद से हटा दिया था। इसके विरोध में एआईडीएमके ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया था। उसने माँग की थी कि नौसेना प्रमुख को पद पर बहाल किया जाय और रक्षा मंत्री जॉर्ज फर्नांडिस को पद से हट जाना चाहिए। विष्णु भागवत ने रेडिफ डॉट कॉम को दिये गये साक्षात्कार में कहा था कि “रक्षा मंत्री मुझसे नाराज थे, क्योंकि मैंने समुद्री रास्ते से हथियारों की तस्करी पर रोक लगा दी थी।” जॉर्ज फर्नांडिस तहलका भंडाफोड़ में फँस गये थे। इसमें भाजपा अध्यक्ष बंगारु लक्ष्मण और जया जेटली का भी नाम आया था। बराक मिसाइल घोटाले में रक्षा सौदों के एक बड़े दलाल सुरेश नंदा भी शामिल थे, जो उसी नंदा परिवार से आते हैं जिनका इस धंधे पर दबदबा है।

रक्षा सौदे में दलाली और घोटालों का किस्सा बेअन्त है। 24



मार्च 1986 को राजीव गाँधी की कांग्रेस सरकार ने स्वीडन की हथियार निर्माता कम्पनी बोफोर्स से हथियारों का सौदा किया। इस सौदे के तहत भारत ने बोफोर्स कम्पनी से 410 फील्ड होवित्जर गन खरीदने के लिए 2850 करोड़ डॉलर मंजूर किया। आरोप लगाया गया कि कम्पनी ने सौदा पटाने के लिए भारतीय नेताओं और सैन्य अधिकारियों को 640 करोड़ रुपये की रिश्वत दी। इस घोटाले के बाद कानूनी तौर पर रक्षा सौदों में बिचोलियों की भागीदारी को खत्म कर दिया गया लेकिन व्यवहार में यह सिलसिला चलता रहा। 1999 में कारगिल युद्ध के बाद कफन-खसोट ताबूत घोटाला सामने आया। मृतक सैनिकों के लिए ताबूत खरीदने में सरकार ने 187 हजार डॉलर का घाटा उठाया। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि अटल बिहारी की भाजपा सरकार को मृत सैनिकों के अन्तिम संस्कार की सामग्री ब्यूट्रोन एंड बैज से खरीदनी पड़ी, जो अमरीका की कम्पनी है।

जितनी बड़ी खरीद, उतनी अधिक दलाली। यही वजह है कि रक्षा बजट शिक्षा और स्वास्थ्य बजट को काफी पीछे छोड़ रहा है। इस साल बजट में रक्षा के लिए 2.58 लाख करोड़ रुपये आवंटित किये गये, जबकि शिक्षा के लिए एक लाख करोड़ का आँकड़ा भी पार नहीं किया। रक्षा पर इतना अधिक खर्च क्यों किया जाता है और इससे किसकी जेबें भरती हैं? इन रक्षा सौदों में होने वाले घोटाले 'देश की सुरक्षा में गोपनीयता' के नाम पर दबा दिये जाते हैं। लगभग सभी मामलों में सीबीआई ने आरोपियों के खिलाफ ठीक से तथ्य नहीं जुटाये और

न्यायालय में आरोपियों को मुक्त कर दिया गया। दरअसल आज इन रक्षा दलालों का मकड़जाल इतना फैल गया है कि कोई भी सौदा बिना साँठ-गाँठ और रिश्वत के नहीं हो सकता। इस मकड़जाल को तोड़े बिना सैन्य व्यवस्था को भ्रष्टाचार मुक्त नहीं किया जा सकता। राजनीतिक पार्टियों का यह दस्तूर बन गया है कि वे एक-दूसरे को कोसती रहती हैं और खुद के भ्रष्टाचार से मुँह मोड़ती रहती हैं। सच्चाई यह है कि किसी भी राजनीतिक पार्टी का दामन बेदाग नहीं है।

अगस्ता हेलीकॉप्टर सौदे के मामले में नये खुलासे हो रहे हैं। छत्तीसगढ़ की भाजपा सरकार के मुख्यमंत्री रमन सिंह पर आरोप लगा है कि इस सौदे में उनके बेटे ने लाभ कमाया है। जाहिर सी बात है कि भविष्य में नये-नये खुलासे होंगे और नये नेताओं, नौकरशाहों और सैन्य अधिकारियों के नाम सामने आयेंगे। कुछ एक पर मुकदमे भी चलेंगे। मीडिया कुछ दिनों तक इसे मुद्दा बनाये रखेगा। फिर इसे तब तक के लिए भुला दिया जायेगा, जब तक दूसरा बड़ा सैन्य घोटाला सामने नहीं आ जाता। जनता के श्रम से उत्पन्न करोड़ों की सम्पदा की लूट जारी रहेगी। जनता आपस में लड़ती रहेगी और लुटेरे मौज उड़ाते रहेंगे। लेकिन यह लूट बंद हो सकती है, बशर्ते देश की करोड़ों जनता इन पार्टियों की नूराकुशितियों की दर्शक न बनी रहे बल्कि खुद अखाड़े में उतरे। इनके कुकृत्यों को चुपचाप बर्दाश्त करना छोड़ दे और लूट-खसोट का असली विरोध शुरू कर दे।



## एक मरीज का डॉक्टर के आगे बयान : बर्तोल्त ब्रेख्त

हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण वह एक छोटा सा शब्द है जिसे सब जानते हैं पर कहता कोई नहीं जब बीमार पड़ते हैं तो बताया जाता है सिर्फ तुम्हीं (डॉक्टर) हमें बचा सकते हो जनता के पैसे से बने बड़े-बड़े मेडिकल कॉलेज में खूब सारा पैसा खर्च कर दस साल तक डॉक्टरी शिक्षा पायी है तुमने तब तो तुम हमें अवश्य अच्छा कर सकोगे। क्या तुम सचमुच हमें स्वस्थ कर सकते हो? तुम्हारे पास आते हैं जब बदन पर बचे चीथड़े खींचकर कान लगाकर सुनते हो तुम हमारे नंगे जिस्मों की आवाज

खोजते हो कारण शरीर के भीतर पर अगर एक नजर शरीर के चिथड़ों पर डालो तो वे शायद तुम्हें ज्यादा बता सकेंगे क्यों घिस-पिट जातें हैं हमारे शरीर और कपड़े बस एक ही कारण है दोनों का वह एक छोटा सा शब्द है जिसे सब जानते हैं पर कहता कोई नहीं। तुम कहते हो कन्धों का दर्द टीसता है नमी और सीलन की वजह से डॉक्टर तुम्हीं बताओ यह सीलन कहाँ से आयी? बहुत ज्यादा काम और बहुत कम भोजन ने कमजोर और दुबला कर दिया है हमें पर्ची पर लिखते हो और वजन बढ़ाओ

यह तो वैसा ही है दलदली घास से कहो की वो खुश रहे। डॉक्टर तुम्हारे पास कितना वक्त है हम जैसों के लिए? क्या हमें मालूम नहीं तुम्हारे घर के एक कालीन की कीमत पाँच हजार मरीजों से मिली फीस के बराबर है बेशक तुम कहोगे इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं। हमारे घर की दीवार पर छाई सीलन भी यही कहानी दोहराती है हमें मालूम है अपनी बीमारी का कारण वह एक छोटा सा शब्द है जिसे जानते सब हैं पर कहता कोई नहीं वह है 'गरीबी'।

## आप जाएँ अम्बर्तो इको, आपकी किताब बची रहेगी

- प्रियदर्शन

ऐसे समय में, जब बोलने की आजादी का सबसे ज्यादा इस्तेमाल झूठ बोलने वाले कर रहे हैं और सच बोलने वाले खतरे में हैं, तब अम्बर्तो इको का जाना मायूस करता है।

जिस वक्त हम बोलने की आजादी के दायरों पर बहस कर रहे थे, एक शख्स हमारे बीच से चुपचाप उठकर चला गया। उसने दुनिया भर में कीर्ति हासिल की। उसने एक भरा-पूरा जीवन जिया, वह 84 बरस का हो चुका था। इसलिए उसका जाना शोक का विषय नहीं है। लेकिन ऐसे समय में उसका हमारे बीच न होना अफसोस की बात जरूर है।

क्योंकि अम्बर्तो इको मुसोलिनी के इटली में पैदा हुए थे और फासीवाद के खतरों से उनकी जान-पहचान बहुत पक्की थी। फासीवाद पर केन्द्रित अपने एक लेख की शुरुआत में वे याद करते हैं कि किस तरह अपने बचपन में वे मुसोलिनी के देशभक्ति के नारों से प्रभावित हुआ करते थे और देश के लिए प्राण देने जैसे विषय पर निबंध लिखकर पुरस्कार पाया करते थे। बाद के दौर में उन देशभक्ति भरे भाषणों ने इटली का क्या किया, यह इतिहास से छुपा नहीं है। लेकिन अम्बर्तो इको यह इतिहास नहीं पढ़ा रहे थे।

वे लिखते हैं कि जब यह दौर खत्म हुआ और 1945 में पार्टीजन्स मिलान पर काबिज हुए, तो उनके नेता मीमो ने लोगों को सम्बोधित किया। मीमो की एक टांग युद्ध में कटी हुई थी। वे बैसाखियों के सहारे सिटी हॉल की बालकनी पर आये और लोगों को हाथ हिलाकर शान्त रहने का इशारा किया। अम्बर्तो लिखते हैं कि उनको मीमो के भाषण का बड़ी शिद्दत से इन्तजार था। वे स्कूली दिनों में मुसोलिनी के ऐतिहासिक भाषण सुनते और उनके हिस्से रटते हुए बड़े हुए थे। लेकिन मीमो बहुत ही खुरदरी आवाज में, धीमे-धीमे बोल रहे थे। उन्होंने कहा, 'दोस्तो, नागरिको, बहुत सारे तकलीफदेह त्याग के बाद, हम यहाँ तक पहुँचे हैं। जिन्होंने आजादी के लिए बलिदान दिया, उनका आभार।' इसके बाद वे भीतर चले गये। इको ने लिखा कि उस दिन उन्होंने समझा कि बोलने की आजादी का मतलब शब्दाडम्बर से भी आजादी होता है।

तो हमारे समय में, जब शब्दाडम्बर ही सारी परिभाषाएँ तय करने पर तुला है, सारे संकटों को ढँक ले रहा है, जब बोलने की आजादी का सबसे ज्यादा इस्तेमाल झूठ बोलने वाले कर रहे हैं और

सच बोलने वाले मारे जा रहे हैं, तब अम्बर्तो इको का जाना मायूस करता है। जिस लेख के जिक्र से यह टिप्पणी शुरू हुई है, उसे अगर पढ़ें तो आपको लगेगा कि अम्बर्तो इको ने उसे किसी जमाने में किसी और देश के लिए नहीं, बल्कि अभी ही, भारत के मौजूदा समय को ध्यान में रखकर लिखा है। अम्बर्तो के लेखन और विचार में बहुत कुछ ऐसा है जो हमारे समय के संकटों की सटीक शिनाख्त में हमारी मदद करता है।

इको की मूल ख्याति ऐसे इतालवी बुद्धिजीवी की रही जो समकालीन यूरोप को एक आईना मुहैया कराता है। लेकिन कम से कम दो ऐसी वजहें भी हैं - या शायद इससे ज्यादा - जो अम्बर्तो इको को तमाम लोगों के लिए प्रिय ही नहीं, बल्कि आत्मीय भी बनाती हैं। इनमें से एक है उनकी किताब - 'दिस इज नॉट दि एंड ऑफ द बुक'- जो अम्बर्तो इको और महान फ्रेंच लेखक और पटकथाकार ज्याँ क्लाद केरियर के बीच की बातचीत से बनी है। ज्याँ क्लाद केरियर ने कई बड़ी फिल्मों के अलावा पीटर ब्रुक के महाभारत की पटकथा भी लिखी है और इसके लिए भारत में साल भर शोध करने के दौरान भारत पर केन्द्रित एक किताब भी, जिसका अरुणा वासुदेव ने 'इन सर्च ऑफ महाभारत' के नाम से अनुवाद किया है।

इको और केरियर दोनों भयानक पुस्तक प्रेमी और संग्रहकर्ता हैं। इको के पास पचास हजार किताबें हैं तो केरियर के पास शायद तीस या चालीस हजार- और दोनों इस किताब में दुनिया के तमाम विषयों पर बात करते हैं-- बेशक इस बातचीत में वे किताब को ओझल नहीं होने देते। वे मानते हैं कि बहुत सारी किताबें नष्ट की गयी, जलायी गयी, लेकिन सदियों के इतिहास में किताबें किसी भी दूसरे माध्यम के मुकाबले ज्यादा टिकाऊ साबित हुई हैं। इको सिर्फ अच्छी किताबों की चर्चा नहीं करते, वाहियात और बेसिरपैर की किताबों की चर्चा करते हैं और बड़ी ऊष्मा से भरी यह बातचीत अन्ततः मनुष्य की उस मेधा की बातचीत हो जाती है जिसमें अनन्त सम्भावनाएँ हैं।

लेकिन इको की एक दूसरी किताब है जिसका नशा ही कुछ अलग है। उनका एक उपन्यास है 'द नेम ऑफ द रोज'। बहुत सारे जटिल लातिन, इतालवी और मिथकीय संदर्भों से भरी यह एक जटिल किताब है लेकिन कुछ धीरज से पढ़ने पर इसका जादू बांध

लेता है। इस जटिलता की वजहें कई हैं। इको चौदहवीं सदी की शुरुआत की एक कहानी कहते हैं, सत्रहवीं सदी की एक पांडुलिपि के हवाले से। और दो सदियों की अभिव्यक्तिगत जटिलता के बीच बीसवीं सदी की समकालीनता को व्यक्त करने वाला आख्यान अगर वहाँ चुपचाप चला आता है तो इसलिए कि किताब के लेखक अम्बर्तो इको हैं। किताब में एक पुस्तकालय को जलाये जाने से बचाने की कोशिश के बीच धर्म, मिथक और सत्ता का बेहद रहस्यमय, डरावना और संश्लिष्ट किस्म का द्वंद्व है जिसे किसी उचित शब्द के अभाव में हम एक विराट सांस्कृतिक विमर्श भर कह सकते हैं।

इसे पढ़ते समय विचार आया था कि क्या कोई इसका हिंदी अनुवाद करेगा? इतेफाक से कुछ ही दिन पहले मदन सोनी ने 'खाली नाम गुलाब का' के नाम से इस किताब का अनुवाद किया है।

लेकिन जिस समय हम किताबों के बारे में किताबें पढ़ना चाहते हैं, जब हम सभ्यता और इतिहास को गढ़ने वाले रसायनों को समझना चाहते हैं तब हमारे चारों तरफ काफी कुछ ऐसा घट रहा होता है कि उससे आँख चुराना मुश्किल होता है। हमारा समय भी ऐसा ही समय है, जब शब्दों का बहुत बुरी तरह अवमूल्यन जारी है, उससे कहीं ज्यादा विचारों का और इन सबकी वजह से उस सहज मनुष्यता का जो इस पूरी सभ्यता का लक्ष्य कही जा सकती है। आज हम धर्म और राष्ट्र से जुड़ी पहचानों की ऐसी नकली राजनीति के शिकार बनाये जा रहे हैं जिसमें मनुष्य के तौर पर हमारी पहचान खतरे में है, हमारा विवेक खतरे में है और इसको बचाने की लड़ाई जानलेवा हद तक खतरनाक हो चुकी है।

ऐसे में वह लेखक उठ कर चल दे, जिसकी उँगली पकड़ कर आपने विचार की चंद गलियाँ पार की हों तो अपने भीतर एक असहायता का बोध होता है- लेकिन इसी से संबल भी मिलता है- कि शब्द और संस्कृति, विचार और अभिनवता की लड़ाई बची रहेगी, क्योंकि कोई न कोई जिद्दी, पागल या सनकी होगा जो अम्बर्तो इको की किताब से उठेगा और सबकुछ ढाँव पर लगाकर भी जलते हुए पुस्तकालयों के बीच से कुछ किताबें चुन कर, छुपा कर बचा लेगा। आप जाएँ अम्बर्तो इको, आपकी किताब बची रहेगी।

(सत्याग्रह स्कूल डॉट इन से साभार)



मसीहाओं से डरो... और उन लोगों से भी जो सच्चाई के लिए जान देने को तैयार रहते हैं, क्योंकि कायदे के मुताबिक वे बहुतों को अपने साथ मरने के लिए राजी कर लेते हैं, आम तौर पर उनसे पहले मरने के लिए, समय आने पर उनके बदले में मरने के लिए...

—अम्बर्तो इको



## प्रतियोगिता

-आर्थर कानन डायल

जब मनुष्य का अहम् अपनी चरम सीमा पर जाता है तो...

ईसा के 66वें, अपने जीवन के 29वें और राज्य काल के 13वें वर्ष में पहुँच कर रोम के सम्राट नीरो ने यूनान के लिए जल-यात्रा की। उसकी यात्रा का उद्देश्य ऐसा अनोखा था कि इससे पहले शायद ही किसी सम्राट ने सोचा हो। उसके दस जहाजों में परदे तथा रंगमंच के लिए आवश्यक अन्य सामान पड़ा था, साथ में कई सामन्त और परिषद के सदस्य भी थे, जिन्हें अपने पीछे रोम में छोड़ जाने पर उसे विद्रोह का डर था और जिनकी मृत्यु के लिए उसने पहले से सारी तैयारी कर ली थी।

उसके सहयात्रियों में एक उसका संगीत शिक्षक नेट्स था एक भयानक आवाज वाला भाट क्लुविअस था जो उसकी उपाधियों की घोषणा करता था और एक हजार नवयुवक ऐसे थे जो नीरो के गानों या अभिनय पर तालियाँ बजाने और वाहवाही करने की कला में सिद्धहस्त थे। उनमें से हर एक को अपनी-अपनी कला में बड़ी कुशलता पूर्वक शिक्षा दी गयी थी, कुछ तो केवल प्रशंसा में सिर्फ 'हूँ' किया करते थे। कुछ उत्साहपूर्वक तालियाँ बजाते। कुछ को तो उत्साह में पागल होने और अपने-अपने स्थान पर उठकर जोरजोर से 'वाह-वाह' करने, चीखने, शोर मचाने और छड़ियों से बेंचों को पीटने का काम करना पड़ता था।

कुछ का पार्ट इससे भी अधिक प्रभावशाली था। सिकंदरिया के रहने वाले एक व्यक्ति ने एक लम्बी, मक्खी के भिनभिनाने जैसी संगीतात्मक ध्वनि सिखायी थी। जब ये इकट्ठे होकर वह तान छेड़ते तो सारा हॉल गूँजने लगता। इन प्रशंसकों की सहायता से नीरो को पूरा विश्वास था कि अपनी वाणी स्वरहीन और अभिनय बेहूदा होने पर भी वह यूनानी नगरों में होने वाली कला प्रतियोगिताओं में सफलताओं का सेहरा बांधकर रोम लौटेगा।

ज्यों-ज्यों उसका स्वर्णजड़ित जहाज भू-मध्य सागर में तैरता हुआ यूनान की ओर बढ़ रहा था, वह अपने कमरे में अपने संगीत शिक्षक की देख रेख में सुबह से शाम तक अपनी पसन्द के गानों का अभ्यास करता। थोड़ी-थोड़ी देर बाद हब्शी गुलाम सुगन्धित व दर्दनाशक तेलों से सम्राट के गले की मालिश करता रहता ताकि काव्य और संगीत की जन्मभूमि यूनान में वह गला अपने मुख्य काम को कुशलता पूर्वक कर सके। सम्राट के लिए खाने-पीने और व्यायाम की व्यवस्था भी उसी प्रकार की गयी थी जैसे कोई पहलवान कुश्ती लड़ने से पहले करता है। हार्प (वीणा के समान एक पुराना

यूरोपियन बाजा) की झंकार के साथ मिले हुए सम्राट के कर्कश स्वर उस जहाज में हमेशा गूँजते रहते।

उन्हीं दिनों पोलिक्लीज नाम का एक यूनानी चरवाहा हेरिया के समीप की पहाड़ियों पर अपनी तथा अन्य लोगों की बकरियाँ चराया करता था। यह हेरिया अल्फियस नदी के पाँच मील उत्तर में है। सुप्रसिद्ध ओलिम्पिया से विशेष दूरी पर नहीं है। दूर-दूर के गाँवों में यह चरवाहा अपने हुनर और विचित्र विधाओं में निपुणता के लिए प्रसिद्ध था।

वह कविता लिखता था और दो बार अपनी कविताओं के लिए अपने सर पर सेहरा भी बँधवा चूका था। वह संगीतज्ञ भी था और हार्प बजने में इतना अभ्यस्त था की लोग ये भूल जाते थे कि गायक एक चरवाहा भी था। सर्दियों में पहाड़ियों में जब वह अकेला बकरियाँ चराता था तो उसका हार्प भी उसके कंधों पर लटका करता और अक्सर ये लम्बी घड़ियाँ वह हार्प की सहायता से गुजार देता। हार्प उसके व्यक्तित्व का अभिन्य अंग बन चुका था।

पोलिक्लीज देखने में सुन्दर था-श्यामवर्ण परन्तु सुगठित, उसका सर व चेहरा अडोनिस् (जो सुन्दरता का साकार स्वरूप समझा जाता है) जैसा सौन्दर्यशाली था, और आस पास के प्रदेश में उससे अधिक शारीरिक बल वाला कोई न था। लेकिन उसके अक्खड़ स्वाभाव ने इन सब बातों पर पानी फेर दिया था। अपनी बातों का विरोध और कटना उसे रती भर भी पसन्द नहीं था। इसी कारण उसकी सबसे लड़ाई रहती। क्रोध में आकर कभी-कभी तो महीनों तक संसार से बिलकुल सम्पर्क तोड़ कर अपनी पहाड़ी झोपड़ी पर ही पड़ा रहता।

सन 67 के बसन्त में एक दिन पोलिक्लीज अपने लड़के की सहायता से अपनी बकरियों को एक नये चारागाह में ले गया जहाँ से बहुत नीचे ओलिम्पिया का प्रसिद्ध नगर दिखायी देता था। ऊपर से दृष्टि डालते हुए चरवाहे को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि ओलिम्पिया की विशाल

रंगशाला(एम्फिथियेटर) के कुछ भागों को शामियानों से पाट दिया गया है मानो कोई प्रदर्शन होने वाला हो। संसार और इसके समाचारों से बहुत दूर रहने के कारण पोलिक्लीज की समझ में यह सब कुछ न आया। उसे इतना तो अवश्य पता था कि ओलिम्पिया में होने वाले यूनानी चतुर्वर्षीय खेलों में अभी दो साल और बाकी हैं। तो निश्चित ही कोई काव्य या संगीत प्रतियोगिता हो रही होगी, जिस कारण समाचार उसे नहीं मिल सका है। यदि ऐसा है तो निर्णायकों द्वारा उसके स्वयं चुने जाने की भी सम्भावना है। इसके अलावा कविताएँ सुनना और ऐसे अवसरों पर इकट्ठे होने वाले संगीतज्ञों के गाने सुनना व उनकी प्रशंसा करना भी तो उसे अच्छा लगता है। इसलिए उसने अपने लड़के डोसर को बुलाया और उसे बकरियाँ चराने का भार सौंप कर वह, शहर में क्या हो रहा है, यह देखने के लिए अपना हार्प अपने कंधे पर लटका कर चल दिया।

पोलिक्लीज को ओलिम्पिया के उपनगर सूने मिले। वहाँ के मुख्य बाजार में भी किसी को न पाकर उसका आश्चर्य और भी बढ़ गया। उसने अपने कदम बढ़ाये। एम्फिथियेटर के समीप पहुँच कर उसे हल्की गूँज सुनायी देने लगी, जैसी विशाल जनसमूह के एकत्र होने पर स्वाभाविक ही होती है। पोलिक्लीज ने इतने विशाल आयोजन की कल्पना कभी अपने स्वप्न में भी नहीं की थी।

दरवाजे के बाहर कुछ सैनिक गुट बनाये खड़े थे। सैनिकों के बीच में से होता हुआ पोलिक्लीज फुर्ती से अन्दर पहुँचा तो उसने अपने को स्टेडियम के एक भाग में इकट्ठी हुई अपार भीड़ के किनारे पर पाया। सबकी आँखें रंगमंच पर जमी थी उसने यह भी देखा कि दीवारों के सहारे सिपाहियों का पहरा था और स्टेडियम में सफेद गाउन पहने, लम्बे बालों वाले विदेशी युवक भी इधर-उधर बड़ी संख्या में बैठे थे। उसने यह सब देखा तो सही, लेकिन इसका मतलब उसकी समझ में नहीं आया।

अपने पास ही बैठे हुए एक व्यक्ति से सारी बात पूछने के लिए ज्यों ही पोलिक्लीज झुका, एक सिपाही ने अपने भाले की मूठ उसको मारते हुए शान्त रहने को कहा। वह व्यक्ति यह समझा कि पोलिक्लीज ने उससे बैठने के लिए स्थान माँगा है, अतः वह चुपचाप अपने पड़ोसी को भींचता हुआ एक ओर को सरक गया। पोलिक्लीज वहीं बैठ गया। अब उसने अपना ध्यान रंगमंच की ओर किया। वहाँ कोरिन्थ नगर का प्रसिद्ध गायक, और पोलिक्लीज का पुराना मित्र मेतास गा रहा था। लेकिन जनता उसे प्रोत्साहन नहीं दे रही थी।

पोलिक्लीज को जनता का यह रुख मेतास के प्रति अन्याय लगा, क्योंकि मेतास अच्छा गा रहा था। अतः पोलिक्लीज ने जोरजोर से तालियाँ पीटनी शुरू कर दी। इस पर सैनिकों को क्रोधित होते देख कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके अलावा जनता भी उसे विस्मय से देखने लगी। अपना विरोध होते देख कर पोलिक्लीज का हठी व अक्खड़ स्वाभाव और भी उभर आया और वह पहले से भी जोरजोर से तालियाँ बजाने लगा।

लेकिन इसके बाद जो कुछ हुआ उससे पोलिक्लीज के विस्मय की सीमा नहीं रही। जब मेतास अपना गाना समाप्त करके जनता की प्रशंसा प्राप्त किये बिना बैठ गया, तब एक विचित्र व्यक्ति रंगमंच पर आया, जिसके स्वागत में दर्शकों ने तालियाँ पीट-पीट कर जमीन-आसमान एक कर दिया।

यह व्यक्ति छोटे कद का, भारीभरकम था और उम्र में न बूढ़ा था, न जवान। उसकी गर्दन बैल जैसी मोटी थी और भारी चेहरे से माँस की तहें लटक रही थी। इसने नीले रंग का भद्दा व छोटा कुर्ता पहना हुआ था और कमर में एक सुनहरी पेटी कसी थी। उसका गला और छाती का कुछ भाग नंगे थे, और जांघों का ऊपरी भाग भी नंगा था। पैरों में उसने घुटने तक पहुँचने वाले जूते पहन रखे थे, और जांघों का ऊपरी भाग कुर्ते से ढका था। सरकारी देवता की

तरह दो सुनहरी पंख उसके बालों में और दो पैरों की एड़ियों में लगे हुए थे।

उसके पीछे-पीछे हार्प लिए हुए एक हव्शी गुलाम तथा संगीत लिपियाँ लिए हुए शानदार कपड़े पहने हुए एक अफसर आया। इस विचित्र व्यक्ति ने गुलाम के हाथ से हार्प लिया और रंगमंच के आगे तक आकर हर्षनाद करती हुई जनता के सामने अभिनन्दन में झुककर मुस्कुराया।

यह एथेंस का रहने वाला कोई तड़क-भड़क पसन्द गवैया है- पोलिक्लीज ने मन ही मन सोचा, लेकिन तुरन्त उसे यह खयाल आया की यूनानी जनता किसी ऐसे-वैसे गवैये के लिए तालियाँ नहीं पीटती। स्पष्ट था की यह कोई ऐसा संगीतज्ञ है जिसकी ख्याति उससे भी दस कदम आगे थी। पोलिक्लीज फिर निश्छल होकर बैठ गया और दत्तचित्त होकर संगीत सुनने लगा।

नीले वस्त्रधारी गवैये ने दो-तीन बार तार छोड़े और अचानक ही 'निओबे का गीत' शुरू कर दिया। घोर विस्मय से पोलिक्लीज चौंक पड़ा और रंगमंच की ओर घूरने लगा। इस गीत की धुन मंद स्वरों से शीघ्र ही तीव्र स्वरों को चढ़ती थी और शायद गायक ने इसी कारण से इसे चुना भी था। गायक के मंद स्वर किसी जानवर की गुर्राहट या किसी छकड़े के चलने की खड-खड के सामान ध्वनि उत्पन्न कर रहे थे।

तभी अचानक गायक ने अपने सिर को झटक दिया, तनकर पंजों के बल खड़ा हुआ और सिर इधर-उधर जोर-जोर से नचाते हुए ऐसे गुर्राया जैसे किसी कुत्ते को उसके मालिक ने जोर की ठोकर मार दी हो और कुत्ता जोर से चीख रहा हो। इस बीच गायक का हार्प भी अपना राग अलाप रहा था, उसके स्वर कभी गायक के स्वरों के आगे बढ़ जाते और कभी पीछे रह जाते।

लेकिन पोलिक्लीज को सबसे अधिक आश्चर्य तो जनता की प्रतिक्रिया देखकर हुआ। उन दिनों यूनानी लोग संगीत विद्या के अच्छे ज्ञाता थे। अच्छा संगीत सुनकर वे जितनी प्रशंसा करते थे, बुरे संगीत की उतनी ही कड़ी भर्त्सना। इस भड़कीले गवैये

से पहले कई अच्छे-अच्छे संगीतज्ञ भी जनता की कटु आलोचना पा चुके थे। लेकिन जैसे ही इस व्यक्ति ने गाना बन्द करके अपने चेहरे पर बहता हुआ पसीना पोंछा, दर्शकों ने मानो नशे में हर्षनाद से सारा भवन गुँजा दिया। इतनी प्रशंसा अब तक शायद ही किसी की हुई हो।

पोलिक्लीज को लगा कि निश्चय ही वह पागल हो गया है, तभी तो वह जनता का व्यवहार समझ नहीं पा रहा है। उसने अपने चक्कर खाते हुए सिर को थाम लिया- शायद वह कोई सपना देख रहा है, और शीघ्र ही जागकर अपने विचित्र सपने पर जी खोल कर हँसेगा। लेकिन नहीं, उसके चारों ओर बैठे हुए लोग वास्तविक थे, वह अपने पड़ोसियों को अच्छी तरह पहचान रहा था, उनकी तालियाँ और हर्षनाद वास्तव में ही ओलिम्पिया के ऐम्फीथिएटर को गुँजा रहे थे।

सधाये हुए प्रशंसकों का दल अपनी पूरी कला का प्रदर्शन करने में लगा हुआ था, सिकंदरिया के रहने वाले व्यक्ति द्वारा सिखाये गये नवयुवक अपनी तान छोड़ने में लगे थे, चीखने वाले चीख रहे थे, बेन्चों को छड़ियों से पीटने वाले खटर-पटर मचाये थे। बीच-बीच में 'वाह! खूब! बहुत अच्छे!' के संगीतमय नारे गुँज जाते थे। सब ऐसा लग रहा था जैसे समुद्र की लहरों के गर्जन को पवन की सनसनाहट ने डुबो दिया हो।

पोलिक्लीज को लगा कि यह सब पागलपन है- असह्य पागलपन। यदि इसे न रोका गया तो यूनान के प्रसिद्ध कला ज्ञान का अन्त हो जायेगा।

पोलिक्लीज की आत्मा उसे चैन से नहीं बैठे रहने दे सकी। वह अपने स्थान पर खड़ा हो गया और जोर-जोर से हाथ हिलाकर दर्शकों के निर्णय का विरोध करने लगा। उसने अपने फेफड़ों का पूरा जोर चीखने में लगा दिया।

पहले तो इतने शोर में किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। उसकी आवाज उस विचित्र गायक के बार-बार झुकने और मुस्कुराने पर होने वाले नये शोर में डूब गयी।

लेकिन धीरे-धीरे पोलिक्लीज के आस-पास बैठे लोगों ने शोर मचाना बन्द किया और उसकी ओर विस्मय से देखने लगे।

इसके बाद चुप्पी का घेरा बढ़ता चला गया। कुछ देर में सारी रंगशाला में शान्ति छा गयी। सभी इस जंगली किन्तु तेजस्वी व्यक्ति को घूरने लगे, जो अपनी बेन्च पर खड़ा उन्हें बुरा-भला कह रहा था।

“मूर्खों,” वह कह रहा था, “तुम किसलिए तालियाँ पीट रहे हो?” क्या यह कुत्ते-बिल्लियों की चीख-पुकार जैसा संगीत ओलिम्पिया का पुरस्कार जीत सकता था! इस आदमी के गाने में एक भी स्वर सच्चा नहीं है। या तो तुम सब बहरे हो गये हो या पागल। तुम्हें अपने अज्ञान पर शर्म आनी चाहिए।”

सिपाहियों ने दौड़कर उसे नीचे गिरा दिया। इस पर दर्शकों में खलबली मच गयी। जो लोग कुछ निडर थे वे पोलिक्लीज के कथन का समर्थन करने लगे। और गवैये के समर्थक कह रहे थे कि इस जंगली को थिएटर भवन के बहार निकाल दिया जाये। इस बीच में वह गवैया अपना हार्प नीग्रो गुलाम को देकर पृष्ठताछ करने लगा कि यह शोर मचाने वाला व्यक्ति कौन है।

अन्त में जोरदार आवाज वाला एक व्यक्ति, उद्घोषक, आगे आया और कहने लगा की यदि हॉल के पीछे वह मूर्ख व्यक्ति, जिसकी राय शेष जनता से नहीं मिलती है, चाहे तो रंगमंच पर आये और यदि उसमें साहस हो तो अपनी कला का प्रदर्शन करके दिखाये कि वह उस महान संगीतज्ञ को भी पछाड़ सकता है। जिसे सुनने का सौभाग्य अभी जनता को मिला था।

इस चुनौती को सुनकर पोलिक्लीज फिर उठ खड़ा हुआ और रंगमंच की ओर बढ़ा। जनता ने उसके लिए फुर्ती से रास्ता छोड़ दिया। एक मिनट में ही वह चरवाहों के फटे-पुराने कपड़े पहने अपना घिसापिटा हार्प लिये उत्सुक जनता के सामने रंगमंच पर जा खड़ा हुआ। कुछ क्षण वह वहाँ अपने हार्प के तार कसता रहा। जब सुर ठीक मिल गये तो अपने सामने ही बैठे रोम

निवासियों के व्यंग्य बाणों की परवाह न करते हुए उसने गाना शुरू किया।

उसने इस अवसर पर गाने के लिए कोई विशेष गीत तैयार नहीं किया था। उसे तो गाते समय ही काव्य रचना करने का अभ्यास था। संगीत के आनन्द के लिए उसके हृदय के भाव स्वयं कविता के रूप में बहने लगते थे।

उसने जुपिटर की प्रिया एलिस के देश यूनान का गीत गाना शुरू किया। ऊँचे पहाड़ों का वृक्षहीन ढलानों वाला वह देश, जहाँ बादल अपनी परछाइयाँ डालते हुए जल्दी से किसी अनजान देश में चले जाते हैं, बलखाती हुई हवा चलती है, शाम को जहाँ कपकपाती सर्दी राज करती है, और जहाँ की धरती और असमान में सुन्दरता का अनन्त भण्डार भरा है- वह प्रिय देश जिसमें वे सब आज संगीत का आनन्द प्राप्त करने के लिए इकट्ठे हुए हैं।

यह सब बिलकुल साधारण और बच्चों जैसा था। लेकिन इसने ओलिम्पिया वासियों के हृदय को छू लिया क्योंकि यह उनके देश का वर्णन था, जिसे वे जानते थे और जीवन में प्यार करते थे। फिर भी जब अन्त में पोलिक्लीज ने अपना हार्प रोका तो किसी का भी साहस नहीं हुआ कि खुले रूप से उसकी प्रशंसा करे। उसके प्रशंसकों की कानाफूसी की मर्मर ध्वनि विरोधियों की हिस-हिस और शी-शी में दूब गयी। ज्यो ही इस विचित्र स्वागत से हकबका कर पोलिक्लीज पीछे हटा, तभी वह नीले वस्त्रों वाला गवैया उसके स्थान पर खड़ा हो गया।

यदि पहली बार नीले वस्त्रों वाले गवैया का वह गाना बेहूदा था, तो इस बार को उसका भोंडापन अकल्पनीय था। उसका एक-एक स्वर संगीत के नाम पर धब्बा था। लेकिन जब भी वह सांस लेने के लिए एक-दो क्षण रुकता और माथे का पसीना पोंछता तो जनता हर्षनाद से भवन को गुंजा देती।

पोलिक्लीज ने परेशानी से अपना मुँह दोनों हाथों से ढाँक लिया और ईश्वर से प्रार्थना की कि कहीं वह पागल न हो जाये।

जब उस गवैया का संगीत रुका और जनता के हर्षनाद से उसे ज्ञात हुआ कि विजय का सेहरा नीले वस्त्रधारी गवैया को मिल गया है तो उसके हृदय में भय छाने लगा। उसे श्रोताओं से डर लगने लगा, उसे मूर्खों के उस राष्ट्र से घृणा हो गयी और उसके हृदय में चारागाहों के मूक व शान्त वातावरण की चाह जाग उठी। वह भीड़ को चीरता हुआ बाहर पहुँचा। वहाँ कोरिन्थ का मेतास-उसका पुराना प्रतिद्वन्दी व मित्र- उत्सुकता पूर्वक उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

“पोलिक्लीज, जल्दी करो!” मेतास ने चीखकर कहा, “मेरा घोडा अगले कुंज में बंधा है। वह भूरे रंग का है और उसका साज लाल है। जितनी जल्दी हो सके उस पर सवार हो कर भाग जाओ वरना बड़ी बुरी मौत मरोगे।”

“बड़ी बुरी मौत! तुम्हारा क्या मतलब है? मेतास, वह आदमी कौन है?”

“जुपिटर की कसम, क्या तुम्हें पता नहीं था? इतने दिन कहाँ रहे? वह रोमन सम्राट नीरो है। तुमने उसकी जितनी बुराई की है, उसके लिए वह तुम्हें कभी क्षमा नहीं करेगा। जल्दी भागो वरना सिपाही तुम्हें अभी पकड़ लेंगे।”

एक घंटे में पोलिक्लीज अपने पहाड़ी झोपड़े के पास पहुँच गया था। लगभग उसी समय अपने अतुलनीय संगीत के लिए ओलिम्पिया का सेहरा पाकर सम्राट नीरो अपनी भृकुटी ताने उस बद्तमीज व्यक्ति के बारे में पूछ-ताछ कर रहा था, जिसने उसकी नीच और कुटिल आलोचना करने का दुस्साहस किया था।

“उसे फौरन मेरे सामने उपस्थित करो। और मार्कस को भी अपना छुरा और दाग लगाने वाली सलाख लेकर यहाँ आने का हुक्म दो।”

आर्सेनिअस प्लेटस नाम के एक अफसर ने तभी कहा, “महान सीजर, उस मनुष्य का कहीं पता नहीं चल रहा, और उसके बारे में कई विचित्र अफवाहें फैल रही हैं।”

“अफवाहें!” नीरो क्रोध से चिल्ला

उठा, “तुम क्या कहते हो, आर्सेनिअस? वह मोर जैसी आवाज वाला आदमी कोई मूर्ख देहाती था। दर्शकों में उसके कई मूर्ख प्रशंसक थे- मैंने स्वयं उन्हें उसके बेहुदे गाने की प्रशंसा करते सुना है। मेरा तो दिल करता है कि इनके शहर को जलाकर राख कर दूँ ताकि इन्हें मेरे यहाँ आने की बात याद तो रहे।”

“सीजर, यदि उस गायक को उनका समर्थन मिल गया तो आश्चर्य की बात नहीं,” आर्सेनिअस ने कहा, “क्योंकि जो कुछ मैंने सुना है उसके अनुसार आप यदि हार भी जाते तो अपमान नहीं होता।”

“मैं हार जाता! आर्सेनिअस, तुम पागल हो! तुम्हारा मतलब क्या है?”

“महान सीजर, उसे कोई नहीं जानता। वह पहाड़ियों से आया था और पहाड़ियों में विलीन हो गया। आपने भी उसके चेहरे की प्रचंडता और तेजस्विता पर ध्यान दिया होगा। कहते हैं कि वह स्वयं संगीत के देवता पैन थे जो एक मानव से मुकाबला करने आये थे।”

नीरो की तनी हुई भृकुटी ढीली पड़ गयी। “सच, आर्सेनिअस! यही तो मैं सोच रहा था कि किसी आदमी की मेरे सामने आने की हिम्मत कैसे हो सकती है। ओह, इस कहानी को सुनकर तो रोम वाले गदगद हो उठेंगे! आर्सेनिअस, आज रात कोई एक दूत रोम भेज दो जो उन्हें बताये कि कैसे उनके सम्राट ने ओलिम्पिया में उनके सम्मान की रक्षा की है।”

**अनुवाद : राकेश नाथ**



# आर्थिक हत्यारे का नया खुलासा

--विजय कुमार

**अमरीकी साम्राज्यवाद दुनिया** पर अपनी चौधराहट थोपने के लिए आर्थिक हत्यारों (इकोनोमिक हिटमैन) का इस्तेमाल करता रहा है। दूसरे देश में जाकर वहाँ की सरकार के खिलाफ साजिश करना और जरूरत पड़ने पर लोकप्रिय नेताओं की हत्या करना इन आर्थिक हत्यारों का पेशा होता है। 12 साल पहले एक आर्थिक हत्यारे जॉन पार्किंस ने अपनी पुस्तक “एक आर्थिक हत्यारे की स्वीकारोक्ति” में इनके अपराधों का खुलासा किया है। देश-विदेश पत्रिका के 5वें अंक (सितम्बर 2007) में विस्तार के साथ इन हत्यारों द्वारा किये गये अपराधों का विश्लेषण किया गया है। अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय इस गिरोह के क्या मंसूबे हैं और इससे अमरीकी साम्राज्यवाद का क्या हित जुड़ा है, इसके बारे में विस्तार से बात की गयी है। हाल ही में जॉन पार्किंस ने नये खुलासे किये हैं जो बेहद चौकाने वाले हैं।

पिछले 12 सालों में चीजें और खराब हो गयी हैं, जब जॉन पार्किंस ने पहली बार अपनी स्वीकारोक्ति की थी। आर्थिक हत्यारों ने अमरीका और यूरोप सहित पूरी दुनिया में अपने काम को आगे बढ़ाया है। पहले ये केवल तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों को निशाना बनाते थे, लेकिन आज ये हर जगह हावी हैं। वैश्विक अर्थव्यवस्था के पतन के चलते अमरीकी साम्राज्यवाद अपने पैने दाँत और नाखून चमका रहा है। कारपोरेट घरानों के इर्द-गिर्द केन्द्रित अमरीकी अर्थव्यवस्था जिन संसाधनों पर आधारित है उन्हें ही नष्ट कर रही है। यह प्रक्रिया स्थानीय न होकर पूरी तरह वैश्विक है।

पहले आर्थिक हत्यारों का काम किसी देश की प्रगतिशील और जनपक्षधर सरकार

का तख्ता पलटना या लोकप्रिय नेताओं की हत्या करना होता था। इसके साथ ही उनका उद्देश्य उस देश में कठपुतली सरकार या अमरीकी समर्थक सरकार बैठाना था। जिससे न केवल अमरीकी कार्पोरेट घरानों की सम्पत्ति बढ़ती थी, बल्कि कुल मिलाकर अमरीका की सम्पत्ति बढ़ जाती थी। इससे वहाँ के नागरिक भी उस लूट में कुछ हिस्सा पा जाते थे। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि जब से इनका कारोबार अमरीका और यूरोप में बढ़ा है, तब से वहाँ की जनता के खिलाफ ये हत्यारे बड़ी बेशर्मी से कार्पोरेट घरानों के पक्ष में खड़े हो गये हैं। हम जानते हैं कि 62 कार्पोरेट घरानों की सम्पत्ति दुनिया की आधी जनता यानी लगभग 350 करोड़ लोगों की सम्पत्ति के बराबर है। यह सभी जानते हैं कि अमरीकी सरकार इन कार्पोरेट घरानों के आगे असहाय हो जाती है। जो भयावह घटनायें यूनान, आइसलैंड और आयरलैंड में घट रही थीं, वे अब अमरीका में भी घटने लगी हैं क्योंकि आँकड़ें आर्थिक वृद्धि को दिखा रहे हैं लेकिन कई कम्पनियाँ तालाबंदी और लोग बेरोजगारी के शिकार हैं। अब वे समझ गये हैं कि अमरीका और यूरोप में नये बाजार और नये संसाधनों को तलाशना होगा।

पार्किंस स्वीकार करते हैं कि जब वे आर्थिक हत्यारे थे, तब अमरीका ने तीसरी दुनिया के देशों को बड़ी मात्रा में कर्ज दिया। लेकिन यह कर्ज कभी उन देशों तक सीधे नहीं पहुँचा, बल्कि अमरीकी कार्पोरेट कम्पनियों को दिया गया, जिन्होंने इन देशों में अपनी कम्पनी का कारोबार फैलाने में यह धन लगाया और बताया गया कि वे उन देशों का विकास कर रही हैं। इसके बाद जब वे देश कर्ज चुकाने में असमर्थ हो

गये तो इसका दबाव बनाकर उनकी जलापूर्ति व्यवस्था, बिजली उद्योग और अन्य सहकारी उद्यमों का निजीकरण कर दिया गया। अब ये चीजें खुद अमरीका में हो रही हैं। फ्लॉन्ट और मिशिगन इसके जबरदस्त उदाहरण हैं। यह अमरीकी साम्राज्य वास्तव में कार्पोरेट साम्राज्य है, जिसे अमरीका की सैन्य ताकत और सीआईए के दम पर थोपा गया है। अमरीकी साम्राज्य वहाँ की जनता के हित में नहीं है क्योंकि यह अमरीकी जनता की मदद नहीं करता। यह अमरीकी जनता को लूट रहा है।

ट्रांस-पैसिफिक पार्टनरशिप भयानक है। यह कार्पोरेट घरानों को अपरिमित अधिकार देती है। इससे कार्पोरेट घराने, किसी भी देश की सरकार से भी अधिक ताकतवर हो जायेंगे। देश की सम्प्रभुता नष्ट हो जायेगी क्योंकि उन्हे किसी भी देश के कानून के दायरे में बाँधना सम्भव नहीं रह जायेगा। जैसे- फ्रांस में ‘जैव संशोधित खाद्य’ (जीएम फूड) पर रोक इस पार्टनरशिप के तहत आती है क्योंकि व्यापार पर लगी रोक मुनाफे के रास्ते की बाधा है। पार्टनरशिप ने विवाद के निस्तारण के लिए कचहरी सेट की, जिसके कर्मचारी कार्पोरेट घरानों ने नियुक्त किये जो सम्प्रभुता रखने वाली सरकार के न्याय क्षेत्र से बाहर के थे। इस तरह कार्पोरेट कचहरी अब न्याय व्यवस्था सम्भालेगी। दूसरे शब्दों में कार्पोरेट सत्ता ही न्यायालय है, न्यायाधीश है और न्याय है। इस पार्टनरशिप के पास जनता द्वारा चुनी हुई सरकार से भी अधिक ताकत है। इस पार्टनरशिप के आने के बाद न्याय व्यवस्था पूरी तरह कार्पोरेट घरानों के हाथ का खिलौना बन गयी है।

कार्पोरेट घरानों के लालच ने लातिन

अमरीका, अफ्रीका और मध्य पूर्व एशिया को तबाह कर दिया है। वहाँ की जनता भयावह गरीबी और जघन्य अत्याचार के जुए के नीचे कराह रही है। अमरीका अपने देश के किसानों को भरपूर सब्सिडी देता है लेकिन इन गरीब देशों में किसानों की सब्सिडी में भारी कटौती की गयी है। होंडुरास के राष्ट्रपति जेलाया लोकतांत्रिक तरीके से चुने गये थे। उन्होंने जब डोल फूड कम्पनी और चिकुइता ब्रांड इंटरनेशनल जैसे अमरीकी कार्पोरेट घरानों के खिलाफ खड़े होने की कोशिश की तो 4 साल पहले सीआईए ने उनके खिलाफ तख्तापलट की योजना बनायी। उन्हें सत्ता से हटा दिया गया और उनकी जगह एक तनाशाह बैठा दिया गया जिसने होंडुरास को खून में डुबो दिया। कार्पोरेट घरानों ने दुनियाभर के राष्ट्राध्यक्षों को सन्देश भेजने के लिए भी ऐसा किया।

पार्किंस जैसे व्यवस्था के आलोचक उस सुधारवादी और सुविधाभोगी आन्दोलन के समर्थक हैं जो अमरीकी साम्राज्यवाद की छत्रछाया में ही समस्याओं का समाधान ढूँढने की कोशिश करते हैं। जैसे- लोगों को चाहिए कि वे उपभोक्ता कम्पनियों को ईमेल के जरिये मजबूर कर दें कि जब तक कार्पोरेट घराने तीसरी दुनिया के मजदूरों को पूरी तनख्वाह नहीं देते, तब तक वे उस कम्पनी का उत्पाद नहीं खरीदेंगे। इससे कम्पनियों पर दबाव पड़ेगा। वे जैविक खाद्य पदार्थों को बेहतर विकल्प बताते हैं। ऊँचे घरानों से आये समाज सुधारकों की तरह पार्किंस भी उम्मीद लगाये बैठे हैं कि कार्पोरेट घराने अपना खूँखार रवैया छोड़कर एक जनपक्षधर कार्पोरेट में बदल जायेंगे। खैर इतिहास में जिसने भी ऐसी कल्पना की, उसे मुँह की खानी पड़ी। खुद कार्पोरेट कम्पनियों ने लोगों को यह एहसास दिला दिया है कि वे किसी की सुनना नहीं चाहती हैं। वे थोपना चाहती हैं। लोकतन्त्र उनका मकसद नहीं बल्कि वर्चस्व उनकी रणनीति है। ऐसे में एक व्यापक जनज्वार ही इनके भारीभरकम जहाज को डुबो सकता है।

## क्यूबा में अमरीकी कूटनीतिक पहल के निहितार्थ

-शैलेन्द्र चौहान

**गत दिनों अमरीकी** राष्ट्रपति बराक ओबामा ने क्यूबा की औपचारिक यात्रा की। क्यूबा में 1959 की क्रान्ति के बाद पहली बार कोई अमरीकी राष्ट्रपति क्यूबा पहुँचा था। राष्ट्रपति ओबामा ने क्यूबा यात्रा के दौरान हवाना से राष्ट्रीय टीवी पर क्यूबा के लोगों को सम्बोधित भी किया। इस यात्रा के बाद फिदेल कास्त्रो ने एक लम्बा पत्र लिखा है जो वहाँ के सरकारी अखबार "ग्रानमा" में छपा है। इसमें उन्होंने कहा है कि 'क्यूबा को 'साम्राज्य' से किसी तोहफे की जरूरत नहीं है। 89 साल के फिदेल एक दशक पहले अपने भाई राउल कास्त्रो को क्यूबा की सत्ता सौंप चुके हैं। पत्र में उन्होंने राष्ट्रपति ओबामा की मेल-मिलाप वाली बातों को 'खुशामदी' बताते हुए कहा है कि इससे क्यूबा के लोगों को दिल का दौरा पड़ सकता है। ओबामा ने कहा था, "अब वक्त आ गया है कि अमरीका के शीत युद्ध के अवशेषों को दफन कर दिया जाये।" लेकिन लातिन अमरीकी देशों के प्रति अमरीकी मंशा सदैव ही संदेह के घेरे में रही है। वो भी तब जब कोई देश आज भी समाजवाद का झंडा बुलंद कर रहा हो। वैसे भी विगत में अमरीका ने कई लातिन अमरीकी देशों में सत्ता पलट की कोशिशें की हैं। करीब 1500 शब्दों के अपने पत्र में फिदेल कास्त्रो ने 1961 के 'बे ऑफ पिग्स' पर हमले की याद दिलायी है। तब क्यूबा के निर्वासितों के अर्धसैनिक बल ने सीआईए के समर्थन से इस द्वीप पर कब्जे की कोशिश की थी। बे ऑफ पिग्स आक्रमण, निर्वासित क्यूबाइयों की मदद से, जिन्हें अमरीकी सेना ने प्रशिक्षित किया था और हमले के समय पूरी मदद की थी, फिदेल कास्त्रो की सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए दक्षिणी क्यूबा पर किया गया असफल हमला था। संयुक्त राज्य अमरीका में

राष्ट्रपति पद पर जॉन एफ कैनेडी के आने के बाद तीन महीने से कम समय में, 1961 अप्रैल में योजना शुरू की गयी। पूर्वी ब्लॉक देशों से प्रशिक्षित और सुसज्जित, क्यूबा के सशस्त्र बलों ने तीन दिनों में निर्वासित लड़ाकों को हरा दिया था। आगे फिदेल कास्त्रो ने ये भी कहा कि ओबामा ने, "क्यूबा की राजनीति के बारे में नीतियाँ विकसित करने की कोशिश नहीं की है।" उन्होंने क्यूबा पर अमरीकी व्यापार प्रतिबंध भी हटाने की भी माँग की है। ये रोक 1954 से ही चली आ रही हैं और इसे सिर्फ अमरीकी संसद के जरिए ही हटाया जा सकता है। कास्त्रो ने यह टिप्पणी 'अल हेरमानो ओबामा- ब्रदर ओबामा' शीर्षक वाले एक लेख में की है।

फिदेल कास्त्रो का जन्म 1926 में क्यूबा के फिदेल अलेजांद्रो कास्त्रो परिवार में हुआ था जो काफी समृद्ध माना जाता था। फिदेल कास्त्रो ने हवाना विश्वविद्यालय से कानून की डिग्री ली लेकिन वह अपने खुद के खुशहाल परिवार और बहुत से गरीबों के बीच के अन्तर को देखकर बहुत घबराएँ और इस परेशानी की वजह से वह मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रान्तिकारी बन गये। वे एक अमीर परिवार में पैदा हुए और कानून की डिग्री प्राप्त की। हवाना विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत की और क्यूबा की राजनीति में एक मान्यता प्राप्त व्यक्ति बन गये। उनका राजनीतिक जीवन क्यूबा के राष्ट्रहित में, फुल्लोंकियो बतिस्ता शासन और संयुक्त राज्य अमरीका के राजनीतिक और कॉरपोरेट कम्पनियों के प्रभाव का आलोचक रहा। उन्हें उत्साही, लेकिन सीमित, समर्थक मिले और उन्होंने अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने मोंकाडा बैरकों पर 1953 में असफल



हमले का नेतृत्व किया जिसके बाद वे गिरफ्तार हो गये, उन पर मुकदमा चला, वे जेल में रहे और बाद में रिहा कर दिये गये। इसके बाद बतिस्ता की तानाशाही हुकूमत से लड़ने के लिए लोगों को संगठित और प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से वे मैक्सिको रवाना हुए। वे और उनके क्रान्तिकारी साथियों ने दिसम्बर 1956 में मेक्सिको छोड़ दिया और पूर्वी क्यूबा के लिए चल पड़े। 1953 में उन्होंने क्यूबा के राष्ट्रपति फुलर्गोसियो बतिस्ता की सत्ता के खिलाफ हथियार उठा लिये। जनक्रान्ति शुरू करने के इरादे से 26 जुलाई को फिदेल कास्त्रो ने अपने 100 साथियों के साथ सैंतियागो डी क्यूबा में सैनिक बैरक पर हमला किया लेकिन नाकाम रहे। इस हमले के बाद फिदेल कास्त्रो और उनके भाई राउल बच तो गये लेकिन उन्हें जेल में डाल दिया गया। दो साल बाद उन्हें माफी देते हुए छोड़ दिया गया लेकिन फिदेल कास्त्रो ने बतिस्ता शासन के खिलाफ अभियान बंद नहीं किया। यह अभियान उन्होंने मैक्सिको में निर्वासित जीवन जीते हुए चलाया। वहाँ उन्होंने एक छापामार संगठन बनाया जिसे '26 आन्दोलन' का नाम दिया गया।

फिदेल कास्त्रो के क्रान्तिकारी आदर्शों को क्यूबा में काफी समर्थन मिला और 1959 में उनके संगठन ने बतिस्ता शासन का तख्ता पलट दिया। बतिस्ता के शासन को भ्रष्टाचार, असमानता और अन्य तरह की परेशानियों का प्रतीक माना जाने लगा था। क्यूबा के नये शासकों में अर्जेटीना के क्रान्तिकारी चे ग्वारा भी शामिल थे जिन्होंने आम लोगों को जमीन देने और गरीबों के अधिकारों की हिफाजत करने का वादा किया। फिदेल कास्त्रो ने जोर दिया कि उनकी विचारधारा मुख्य रूप से क्यूबाई है, "एक सुनियोजित अर्थव्यवस्था में कोई साम्यवाद या मार्क्सवाद नहीं है बल्कि प्रातिनिधिक लोकतंत्र और सामाजिक न्याय असली तत्व हैं।" फिदेल कास्त्रो पर तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति ड्वाइट आइजनहावर ने लगाम कसने की कोशिश की और उन्होंने दावा किया कि इस तरह उन्हें सोवियत संघ और उसके नेता निकिता ख्रुश्चेव की बाहों में धकेला गया। उस समय क्यूबा शीतयुद्ध का मैदान बन गया। अप्रैल 1961 में अमरीका ने फिदेल कास्त्रो का तख्ता पलट करने की कोशिश की और ऐसा उसने निर्वासन में जीवन जीने वाले क्यूबाइयों की एक सेना बनाकर किया। लेकिन क्यूबाई सैनिकों ने आक्रमण का मजबूत जवाब दिया जिसमें बहुत से लोग मारे गये और लगभग एक हजार को पकड़ लिया गया।

एक साल बाद अमरीका के एक जासूसी विमान ने पता लगाया कि सोवियत संघ से कुछ मिसाइलें क्यूबा की तरफ भेजी जा रही हैं। बस वहीं पर ऐसा लगा कि दुनिया मानो परमाणु युद्ध के कगार पर पहुँच गयी थी। दोनों महाशक्तियाँ एक दूसरे के सामने तनी हुई खड़ी थीं लेकिन सोवियत नेता ने आखिर रास्ता दिया। सोवियत संघ ने क्यूबा से अपनी मिसाइलें वापिस हटा ली और इसके बदले अमरीका ने गुप्त रूप से तुर्की से अपने हथियार हटा लिये। अलबत्ता फिदेल कास्त्रो अमरीका के दुश्मन नम्बर एक बने रहे। एक क्यूबाई मंत्री का कहना है कि अमरीकी खुफिया एजेंसी सीआईए ने कम से कम 600 बार फिदेल कास्त्रो को मारने की कोशिश की। फिदेल कास्त्रो को मारने का एक तरीका यह भी सोचा गया था कि एक सिगार में विस्फोटक भरकर उन्हें

पीने के लिए दिया जाय। गौरतलब है कि फिदेल कास्त्रो सिगार पीने के शौकीन हैं। फिदेल कास्त्रो के खिलाफ और बहुत से तरीकों की साजिश रची गयी जो बहुत खतरनाक और चौंकाने वाली थीं।

उस दौर में सोवियत संघ ने क्यूबा की मदद की। उसने क्यूबा में पैदा होने वाली चीनी बड़े पैमाने पर खरीदी और बदले में सामानों से भरे हुए जहाज क्यूबा के बंदरगाहों पर पहुँचाये। उनमें ऐसा सामान भी होता था जो अमरीकी प्रतिबंधों का मुकाबला करने में मददगार साबित होता था। राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो ने सोवियत संघ पर इतनी निर्भरता के बावजूद क्यूबा को गुट निरपेक्ष आन्दोलन में काफी आगे रखा। लेकिन 1980 में सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाच्योव का युग राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो के लिए बहुत निराश करने वाला साबित हुआ। सोवियत संघ ने क्यूबा की अर्थव्यवस्था में अपने सहयोग से हाथ खींच लिया और उसकी चीनी खरीदनी बंद कर दी। उस समय सोवियत संघ पेरैस्ट्रोइका एवं ग्लास्तनोस्त उर्फ भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियों पर चल निकला था। तब फिदेल ने कहा था कि "क्रेमलिन में शैतान बैठ गया है" और नारा दिया था "समाजवाद या मौत"। सोवियत संघ के इस बहिष्कार और अमरीकी प्रतिबंधों के बावजूद क्यूबा ने हिम्मत नहीं हारी। हालाँकि खाद्य सामग्री के लिए लोगों की लम्बी लाइनें बढ़ने के साथ-साथ उनमें नाराजगी बढ़ती गयी। 1990 के दशक के मध्य तक आते-आते बहुत से क्यूबाई बहुत नाराज हो गये थे। हजारों ने समुद्र से होकर फ्लोरिडा की तरफ भागने का रास्ता अपनाया। यह एक तरह से फिदेल कास्त्रो के खिलाफ अविश्वास व्यक्त करने जैसा था। यहाँ तक कि फिदेल कास्त्रो की बेटी एलिना फर्नांडीज ने भी बगावत का रास्ता अपनाया और अमरीका के मियामी में पनाह ली। उसका आरोप था कि फिदेल कास्त्रो ने अमरीकी बहिष्कार को एक बहाने के तौर पर इस्तेमाल करके देश में लोकतंत्र बहाल नहीं होने दिया है और सिर्फ एक दलीय शासन चलाते रहे हैं। लेकिन उन्होंने यह भी माना कि उनके शासन काल में क्यूबा में बहुत सी सुविधाएँ हैं। सबके लिए मुफ्त चिकित्सा सुविधाएँ हैं, 98 प्रतिशत साक्षरता है और क्यूबा में शिशु मृत्यु दर पश्चिमी देशों के मुकाबले खराब नहीं है।

कुछ नाराजगी के बाद भी क्यूबा में बहुत से लोग हैं जो उनसे सच्चा लगाव रखते हैं। इसीलिए लगभग आधी सदी के शासन के बाद भी फिदेल कास्त्रो क्यूबा में एक करिश्माई व्यक्तित्व बने रहे। पूर्व अमरीकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन से मार्याज विनयाडर्स में एक लम्बी साहित्यिक मुलाकात के दौरान आधी रात के बाद सुप्रसिद्ध स्पेनी लेखक गैब्रियेल गार्सिया मार्केज जब यह कहते हैं, 'अगर फिदेल और तुम आमने-सामने बैठकर बात कर सको, तो सारी दिक्कतें ही दूर हो जायेंगी' तो उनके आशावाद का पता चलता है क्योंकि मार्केज और फिदेल दोस्त हुआ करते थे। खैर क्लिंटन तो नहीं, ओबामा ने एक कूटनीतिक पहल की लेकिन साम्राज्यवादी मसूबे को किनारे करना उनके लिए सम्भव नहीं। उनकी पहल कुछ वैसी ही है, जैसे कोई मुँह भी फुलाये रहे और हँसना भी चाहे।



# ‘आप क्यूबा की राजनीति के बारे में सिद्धान्त न गढ़ें’

## ‘ब्रदर ओबामा’ को फिदेल कास्त्रो की सलाह

बराक ओबामा की क्यूबा यात्रा के जवाब में क्यूबा के पूर्व राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो ने एक लम्बा और तीखा पत्र ‘ब्रदर ओबामा’ के नाम लिखा है जिसमें क्यूबा के खिलाफ अमरीकी हमले के इतिहास की याद दिलाते हुए ओबामा को चेतावनी दी है और कहा है कि ‘हमें आप से किसी तरह के उपहार की जरूरत नहीं है’।

कास्त्रो का तकरीबन डेढ़ हजार शब्दों का यह पत्र हवाना से प्रकाशित ‘ग्रानंमा’ में छपा है जिसमें ओबामा के उस कथन को रेखांकित किया है कि ‘वह शीतयुद्ध के दौरान दोनों देशों के बीच पैदा कटुता को हमेशा के लिए खत्म करने आये हैं।’ राजधानी हवाना में अपने भाषण के दौरान ओबामा ने कहा था कि समय आ गया है कि दोनों देश एक मित्र, एक पड़ोसी और एक परिवार की तरह आगे देखें और पीछे की बातें भूल जायें। कास्त्रो ने ओबामा की इस टिप्पणी को ‘शहद में घुली गोली’ कहा और और व्यंग्य किया कि ओबामा की बातें सुनकर क्यूबा की जनता को दिल का दौरा पड़ सकता था। कास्त्रो ने अपने पत्र में हैरानी व्यक्त की है कि कितने आसान शब्दों में ओबामा ने क्यूबाई जनता को सब कुछ भूलने को कह दिया जबकि अमरीका 60 साल से भी अधिक समय से इस देश के खिलाफ आर्थिक नाकाबंदी जारी रखे है। क्यूबा की जनता कैसे भूल जायं कि 1961 में ‘बे ऑफ पिग्स’ पर अमरीका ने हमला किया था और अमरीका के ही सहयोग से कास्त्रो की नीतियों के विरोधी गुट ने 1976 में क्यूबा के यात्री विमान को मार गिराया था जिसमें 73 लोग सवार थे।

दरअसल ओबामा की इस यात्रा का उद्देश्य क्यूबा की जनता को यह भरोसा दिलाना था कि पिछले 50 वर्षों से भी ज्यादा समय से कम्युनिस्ट सरकार का तख्ता पलटने का अमरीका जो प्रयास करता रहा है उसे अब वह समाप्त कर रहा है और क्यूबा के लिए यह गुंजाइश पैदा कर रहा है कि वह अपनी अर्थव्यवस्था को और साथ ही अपनी राजनीतिक प्रणाली को और भी बेहतर बनाये।

ओबामा ने अपने अनेक भाषणों में यही मंशा व्यक्त की थी। इसके जवाब में फिदेल कास्त्रो ने ओबामा के नाम अपने सार्वजनिक पत्र में लिखा है कि ‘मेरा विनम्र सुझाव है कि वह थोड़ा आत्ममंथन करें और क्यूबा की राजनीति के बारे में सिद्धान्त गढ़ने की कोशिश न करें।’

अनेक दशकों तक नेतृत्व की बागडोर सम्भालते हुए फिदेल कास्त्रो ने दुनिया के सबसे शक्तिशाली देश अमरीका की दुश्मनी मोल लेते हुए जिस तरह क्यूबा को समाजवाद के रास्ते पर आगे बढ़ाया उससे साम्राज्यवादी ताकतों के मंसूबे ध्वस्त हो गये। 2008 में कास्त्रो ने सत्ता की बागडोर अपने भाई राउल कास्त्रो को सौंप दी। अपने इस पत्र में कास्त्रो ने न केवल क्यूबा बल्कि अमरीका में भी मूल निवासियों की तकलीफों के प्रति सत्ताधारियों की उदासीनता पर कड़ी फटकार सुनायी और हैरानी व्यक्त की कि स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में क्यूबा की उपलब्धियों की ओर ओबामा का ध्यान नहीं गया। उन्होंने ओबामा को यह भी याद दिलाया कि दक्षिण अफ्रीका में अल्पमत गोरी सरकार की रंगभेद नीति को समर्थन देने में अमरीका की कितनी शर्मनाक भूमिका थी। उन्होंने ओबामा को सुझाव दिया कि दक्षिण अफ्रीका में अपने देश की भूमिका के बारे में और साथ ही अंगोला में क्यूबा की शानदार भूमिका के बारे में थोड़ा चिन्तन-मनन करें। इन सबके बावजूद कास्त्रो ने यह भी कहा कि ओबामा के इरादे नेक हो सकते हैं क्योंकि ‘उनका मूल वही है जो एक नैसर्गिक प्रतिभा प्रदान कर सकता है।’ अपने पत्र के अन्त में कास्त्रो ने लिखा है कि ‘किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि क्यूबा की जनता और खुद क्यूबा अपने गौरव और अधिकारों को छोड़ देगा और शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के विकास के जरिये उसने जो आत्मिक सम्पदा अर्जित की है उससे उसे कोई वंचित कर सकेगा...हम पूरी तरह समर्थ हैं कि अपनी जनता के श्रम और प्रतिभा से वह सारा कुछ हासिल कर सकें जिसकी हमें जरूरत है।’

—तीसरी दुनिया से साभार



# सीरिया में चल रहा 'स्वराज' का अभिनव प्रयोग

--पवन वर्मा

**युद्धग्रस्त सीरिया के रोजावा में कुर्दों की एक ऐसी धर्मनिरपेक्ष सरकार चल रही है जिसका मूलमंत्र केन्द्रीय सत्ता नहीं बल्कि स्थानीय लोकतंत्र है और जहाँ हर स्तर पर महिलाएँ बराबर की भागीदार हैं।**

सीरिया शायद उन अन्तिम जगहों में से है जिसके बारे में यह सोचा जा सके कि दुनिया को राह दिखाने वाली किसी शासन व्यवस्था के लिए आदर्श स्थापित करे। लेकिन फिलहाल यूरोप से सटे पश्चिम एशिया के इस देश के एक कोने में ठीक ऐसा ही प्रयोग चल रहा है।

पिछले तीन सालों के दौरान आतंकवादी संगठन आईएस के हमलों के कारण सीरिया में राष्ट्रपति बशर अल असद की सरकार देश के बड़े हिस्से से नियंत्रण खो चुकी है। यहाँ दूसरे विरोधी गुट भी हैं जिन्हें अमेरिकी नेतृत्व वाले सैन्य संगठन नाटो की भरपूर मदद मिल रही है। इससे भी देश के कई इलाकों में अराजकता की स्थिति है।

इस सबके बीच सीरिया के उत्तरी स्वायत्तशासी क्षेत्र-- रोजावा में अब भी सरकार कायम है। यह असद की सरकार नहीं है। उनकी सरकार जैसी भी नहीं है। इसे अरब क्षेत्र में अजूबा तो बाकी विश्व के लिए एक आदर्श सरकार कहा जा सकता है। रोजावा सीरिया का कुर्द बहुल इलाका है। तकरीबन 30-35 लाख की आबादी वाले इस क्षेत्र में बहुमत कुर्दों का है लेकिन अरब और ईराकी मुसलमानों के साथ-साथ यहाँ ईसाई व यजीदी अल्पसंख्यक भी रहते हैं।

सीरिया को 1946 में फ्रांसीसी शासन से आजादी मिली थी। तत्कालीन सरकार ने देश को गणतंत्र घोषित किया लेकिन तीन साल बाद ही सेना ने यहाँ तख्तापलट कर

दिया। कुछ समय बाद यहाँ नागरिक सरकार बनी लेकिन फिर तख्तापलट हो गया। सीरिया में सत्ता परिवर्तन का यह क्रम लगातार चला। 1970 में एक 'सुधारात्मक आन्दोलन' चलाने के बाद जनरल हाफिज अल असद यहाँ के प्रधानमंत्री बने और एक साल बाद ही उन्होंने खुद को देश का राष्ट्रपति घोषित कर दिया। वे 2000 में अपनी मौत के पहले तक देश के राष्ट्रपति रहे। इस दौरान सीरिया में अरब सोशलिस्ट बाथ पार्टी (सीरिया रीजन) एकमात्र राजनीतिक दल बना रहा। सीरिया में यह केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था का दौर था जहाँ सारी शक्तियाँ राष्ट्रपति के पास थीं। लोकतांत्रिक मूल्यों के हिसाब से यह एक तरह की तानाशाही व्यवस्था थी जो हाफिज अल असद के बाद उनके बेटे बशर अल असद ने कायम रखी।

पिछली शताब्दी की शुरुआत में सीरिया, ईराक और तुर्की के बीच एक बड़े क्षेत्र में कुर्दों का मिलाजुला भू-भूभाग रहा है। लेकिन इन देशों के निर्माण के साथ-साथ कुर्द लोगों की सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान वाला यह क्षेत्र तीन हिस्सों में बँट गया। हालाँकि ईराक में कुर्दिस्तान नाम का स्वायत्तशासी क्षेत्र है लेकिन तुर्की और सीरिया में कुर्दों की ऐसी किसी माँग को बर्बर तरीके से दबाया जाता रहा।

इस माँग को लेकर तुर्की में कुर्दिस्तान वर्कर्स पार्टी (पीकेके) के नेतृत्व में लम्बे अरसे तक एक विद्रोही आन्दोलन चला है।

पीकेके की स्थापना 1978 में हुई थी और यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा की वामपंथी पार्टी रही है। अपनी स्थापना के बाद से इसने क्षेत्र में तुर्की के खिलाफ छापामार युद्ध छेड़ दिया था। इस दौरान पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक अब्दुल्ला ओकलान कुर्दों के क्रान्तिकारी नेता बनकर उभरे। सिर्फ तुर्की में ही नहीं ईराकी और सीरियाई कुर्दों के बीच भी वे सबसे बड़े नेता बन गये। 1980 में वे सीरिया आ गये और यहाँ से अपनी गतिविधियाँ चलाने लगे। लेकिन बाद में तुर्की के दबाव के चलते 1998 में उन्हें हाफिज अल असद (बशर अल असद के पिता और सीरिया के तत्कालीन राष्ट्रपति) ने देश से बाहर निकाल दिया।

ओकलान यूरोप से होते हुए कीनिया पहुँच गये लेकिन यहाँ अमरीका की खुफिया एजेंसी सीआईए की मदद से उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। अमरीका ने उस समय तक पीकेके को आतंकवादी संगठन घोषित कर दिया था। ओकलान तब से तुर्की की जेल में हैं। कुर्दों का सबसे बड़ा नेता अब अपने लोगों से संवाद नहीं कर सकता था लेकिन उनकी विचारधारा इस क्षेत्र में दिनोंदिन मजबूत होती गयी।

बाद के समय में ओकलान माओवादी विचारधारा छोड़कर एक अलग राजनीतिक विचारधारा 'डेमोक्रेटिक कन्फेडरलिज्म' का प्रचार करने लगे थे। इस उदार समाजवादी राजनीतिक तंत्र के बारे में उनकी व्याख्या है, 'यह तंत्र दूसरे राजनीतिक समूहों और

वर्गों के लिए खुला है। इसमें लोच है, यह एकाधिकार विरोधी और अधिकतम सहमति से चलने वाला तंत्र है।' ओकलान की विचारधारा सत्ता के अधिकतम विकेन्द्रीकरण और अधिकतम भागीदारी का समर्थन करती है।

ओकलान का यह सपना ईराक और तुर्की में पूरा नहीं हो पाया लेकिन रोजावा में शासन व्यवस्था तकरीबन इसी आधार पर चल रही है। सबसे बड़ी बात है कि रूढ़िवादी समाज और देशों से घिरे हुए रोजावा की महिलाएँ इस व्यवस्था में बराबरी की हिस्सेदार हैं।

रोजावा में इस नई सरकार की बुनियाद 'अरब वसंत' की लहर ने रखी है। 2011 में अरब मुल्कों के तानाशाही शासन के खिलाफ ट्यूनीशिया से शुरू हुआ विद्रोह, मिस्र और लीबिया होते हुए सीरिया तक आ पहुँचा था। रोजावा के बारे में कहा जा सकता है कि यह पहले से बारूद के ढेर पर बैठा था। सीरिया में विपक्षी गुटों के विरोध प्रदर्शन शुरू होने पर रोजावा में भी कुर्द अपने अधिकारों के लिए सड़कों पर उतर आये। अन्तरराष्ट्रीय मीडिया में आयी खबरों के मुताबिक असद सरकार ने तब इनका बुरी तरह दमन किया था।

सीरिया में जब गृहयुद्ध तेज होने लगा तब बाकी विरोधी गुटों से अलग होकर कुर्दों की दो राजनीतिक पार्टियों—कुर्दिश डेमोक्रेटिक यूनियन पार्टी (पीवाईडी) और कुर्दिश नेशनल काऊंसिल (केएनसी) ने मिलकर रोजावा में कुर्दिश सुप्रीम कमिटी का गठन कर लिया जो अब यहाँ सरकार चलाने वाली सर्वोच्च संस्था थी। फिर इसी के तहत कुर्दों की सेना पीपुल्स प्रोटेक्शन यूनिट (वाईपीजी) का गठन हुआ। 2012 में इसने सीरियाई सेना को रोजावा से खदेड़ दिया। हालाँकि इसकी एक वजह यह भी थी कि सरकारी सेना अब राजधानी और दूसरे महत्वपूर्ण शहरों पर कब्जा बनाये रखने की लड़ाई पर ज्यादा जोर देना चाहती थी। इस तरह 2012 में यह क्षेत्र 'स्वराज' की एक नयी प्रयोगस्थली बन गया।

## रोजावा में सरकार का संचालन कैसे होता है?

ओकलान की राजनीतिक विचारधारा केन्द्रीय सत्ता का विरोध करती है और इसी आधार पर रोजावा को तीन स्वायत्तशासी क्षेत्रों—कैंटॉन में बाँटा गया है। हर कैंटॉन में शहरों को जिलों में बाँटा गया है। हर जिले को उसकी जनसंख्या के आधार पर कम्प्यूनों में विभाजित किया गया है। कैंटॉन में सरकार की सबसे बुनियादी और महत्वपूर्ण इकाई कम्प्यून हैं। हर एक कम्प्यून स्थानीय 300 लोगों से मिलकर बनता है। इसमें दो सह-अध्यक्ष चुने जाते हैं और स्थानीय मामलों की देखरेख के लिए समितियाँ गठित होती हैं। लोगों की समस्याएँ इन्हीं समितियों के माध्यम से सुलझायी जाती हैं।

हर कम्प्यून के दो सह-अध्यक्ष मिलकर जिला परिषद का निर्माण करते हैं और जिला परिषद फिर से दो सह-अध्यक्षों का चुनाव करती है। हर जिला परिषद से चुने गये सह-अध्यक्ष नगर परिषद का निर्माण करते हैं। नगर परिषद प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से पूरे शहर से और सदस्यों का चुनाव करती है। आखिर में नगर परिषद से चुने हुए प्रतिनिधि कैंटॉन परिषद का निर्माण करते हैं। इसकी तुलना हमारी संसद से की जा सकती है लेकिन इस प्रक्रिया के हर स्तर पर कम्प्यून के सदस्यों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है और सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक मुद्दे कम्प्यून से शुरू होकर कैंटॉन तक पहुँचते हैं।

इस मॉडल की खासबात है कि यहाँ सभी लोगों को अपना धर्म मानने की आजादी तो है, लेकिन राजनीति में इसका कोई हस्तक्षेप नहीं है। रोजावा की शासन व्यवस्था पूरी तरह से धर्मनिरपेक्ष है।

रोजावा पूँजीवादी आर्थिक मॉडल को खारिज करता है। ओकलान पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विरोधी हैं और रोजावा के आर्थिक तंत्र पर यह विचार पूरी तरह लागू है। यहाँ सहकारिता के आधार पर उत्पादन क्षेत्र का विकास किया जा रहा है और लोगों

को इसबारे में जागरूक किया जा रहा है।  
**हर स्तर पर महिलाओं की भागीदारी है**

मुस्लिम बहुल देशों और खासकर अरब देशों में महिलाओं की सार्वजनिक जीवन में भूमिका तकरीबन नगण्य होती है लेकिन रोजावा इस मामले में एक अलग मिसाल कायम कर सकता है। सरकार में जितनी भी समितियाँ बनती हैं उनमें दो सह-अध्यक्ष होते हैं और हर स्तर पर एक सह-अध्यक्ष महिला होती है। इसके अलावा हर स्तर पर बनी परिषद में 40 फीसदी स्थान महिलाओं के लिए आरक्षित हैं।

यह तो शासन प्रशासन की बात हुई लेकिन रोजावा में अलग से महिलाओं की सेना वाईपीजे भी गठित की गयी है। वाईपीजे ने पिछले साल आईएस के खिलाफ अग्रिम मोर्चे पर कई लड़ाइयाँ लड़ी हैं। माना जाता है कि सीरिया के कोबानी शहर को आईएस के कब्जे से मुक्त कराने में इस महिला लड़ाका फौज की अहम भूमिका थी। कोबानी रोजावा का ही हिस्सा है।

रोजावा में चल रही इस नयी राजनीतिक व्यवस्था ने बीते दो सालों में दुनियाभर के बुद्धिजीवियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। इनमें से कई तो इस क्षेत्र में जाकर भी आये हैं। ब्रिटेन के हाऊस ऑफ लॉर्ड्स के सदस्य रेमंड जोलिफे पिछले साल मई में यहाँ के दौर पर थे। अपने अनुभव को एक अखबार से साझा करते हुए उनका कहना था, 'यह एक अद्वितीय प्रयोग है और इसे सफल होना चाहिए।' ऑक्यूपाई वॉलस्ट्रीट आन्दोलन के एक संस्थापक डेविड ग्राइबर इस बारे में लिखते हैं कि सीरियाई क्रान्ति की त्रासदी के बीच रोजावा सबसे चमकीला बिन्दु है।

**(सत्याग्रह डॉट स्कूल डॉट इन से साभार)**



# ब्राजील की राष्ट्रपति डिल्मा रोऊसेफ का ऐतिहासिक भाषण

(पिछले दिनों ब्राजील की निर्वाचित राष्ट्रपति डिल्मा रोऊसेफ पर महाभियोग चलाया गया। वह ब्राजील की प्रथम महिला राष्ट्रपति हैं जो अपनी कल्याणकारी और जनहितैषी योजनाओं के कारण बेहद लोकप्रिय हैं। इनके मंत्रिमण्डल में काफी संख्या में महिलाएँ शामिल थीं। वे किसी प्रकार के भ्रष्टाचार का हिस्सा नहीं रहीं। अपनी जनपक्षधर नीतियों के कारण जिनमें गरीबों के लिए घर, किसानों के लिए सस्ता ऋण, सस्ती शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ शामिल हैं, वे हमेशा अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और ब्राजील के पूँजीपतियों की आँखों की किरकिरी बनी रहीं। उनके ऊपर अमरीका के इशारे पर महाभियोग चलाया गया। लातिन अमरीकी राजनीति में यह कोई अजीब नहीं। वहाँ जिन देशों में कोई जनपक्षधर सरकार बनती है उसको सत्ताच्युत करने के लिए उन देशों के कुलीन और पूँजीपति वर्ग तथा साम्राज्यवाद परस्त एनजीओ अमरीकी साजिश के हिस्सेदार बन जाते हैं। विश्वप्रसिद्ध विद्वान नोम चॉम्स्की ने खेदपूर्वक कहा कि यह ठगों के गिरोह द्वारा चलाया गया महाभियोग है। उन्होंने कहा कि वे एक ऐसी राजनीतिज्ञ हैं जिन्होंने कभी अपनी जेब नहीं भरी। कुलीन विपक्ष जबसे चुनाव में हारा, तबसे वह निर्वासित सरकार को उखाड़ फेंकने की कोशिश कर रहा था। प्रस्तुत है महाभियोग के बाद उनका भाषण।)

**बहनो और भाइयो,** पत्रकार बन्धुओ, सुप्रभात!

यहाँ उपस्थित सांसद एवं मंत्रिगण सुप्रभात।

यहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को सुप्रभात।

मैं प्रेस के सामने अपना बयान दूँगी इसलिए यह साक्षात्कार नहीं है, बल्कि एक बयान है।

मैं आप सभी को, सभी ब्राजीलवासियों को बताना चाहती हूँ, यह कहना चाहती हूँ कि सिनेट द्वारा मेरे खिलाफ महाभियोग की प्रक्रिया शुरू की गयी। सिनेट ने ही राष्ट्रपति के रूप में मेरे कार्यकाल को अधिकतम 180 दिनों के लिए निरस्त करने का आदेश दिया है।

मुझे 5 करोड़ 40 लाख ब्राजीलवासियों ने राष्ट्रपति के रूप में चुना है और इन्हीं व्यक्तियों में से एक, राष्ट्रपति की हैसियत से जिसे 5 करोड़ 40 लाख ब्राजीलवासियों ने चुना है, ब्राजील के लोकतंत्र और एक राष्ट्र के रूप में अपने भविष्य की निर्णायक घड़ी में आपको सम्बोधित कर रही हूँ।

इस महाभियोग की प्रक्रिया में सिर्फ जनादेश ही दाँव पर नहीं लगा है, बल्कि चुनावों के लिए सम्मान, ब्राजील के लोगों की सम्प्रभु इच्छा और संविधान भी खतरे में है। जो चीज खतरे में है वह है पिछले तेरह साल की उपलब्धियाँ, सर्वाधिक गरीब लोगों की और मध्यमवर्ग की उपलब्धियाँ, बाल संरक्षण, युवा लोगों की विश्वविद्यालयों और तकनीकी संस्थाओं तक पहुँच।

न्यूनतम मजदूरी का मूल्य, विशाल आबादी का इलाज करते डॉक्टर और “मिन्हा कासा, मिन्हा वीडा”, (मेरा घर मेरा जीवन) के साथ अपने स्वामित्व वाले घर का सपना। समुद्र में बहुत गहराई में ब्राजील की महान खोज- नमक की परतों के नीचे पेट्रोलियम की खोज (प्री साल्ट) खतरे में है।

इस देश का भविष्य, सदैव आगे बढ़ते जाने के अवसर और आशाएँ— सब खतरे में हैं।

सिनेट के फैसले से पहले, एक कपटपूर्ण महाभियोग वास्तव में एक तख्ता पलट के खतरे से पूर्व मैं एक बार फिर सभी तथ्य और रिपोर्ट आप सबके सामने प्रस्तुत करना चाहती हूँ।

जब से मैं चुनी गयी, तब से ही असन्तुष्ट विपक्ष ने वोटों की दोबारा गिनती की माँग की, उसने चुनाव को अवैध करार देने का प्रयास किया और बात नहीं बनी तो खुलेआम मेरे खिलाफ महाभियोग के षड्यंत्र में जुट गया।

उन्होंने देश को न सिर्फ राजनीतिक अस्थिरता की ओर धकेल दिया, बल्कि अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के प्रयास को भी बाधित किया। इन सबके पीछे एक मात्र उद्देश्य यह है कि जिसे वे चुनाव जीतकर हासिल नहीं कर सके उसे ताकत के बल पर हासिल कर सकें।

मेरी सरकार तीखे और लगातार चलनेवाले षड्यंत्र के निशाने पर रही है।

इनका स्पष्ट उद्देश्य है कि किसी तरह मुझे शासन करने से रोका जाये और तख्ता पलट करके अपने लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया जाये।

जब किसी चुने हुए राष्ट्रपति को ऐसे अपराधों के लिए गुनहगार बनाया जाये जो उसने किया ही नहीं, तो लोकतांत्रिक दुनिया में इसे महाभियोग नहीं, बल्कि सत्तापलट कहते हैं।

मैंने उत्तरदायित्व सम्बन्धी कोई अपराध नहीं किया है। महाभियोग की प्रक्रिया का कोई औचित्य नहीं है। विदेशों में मेरा कोई बैंक खाता नहीं है। मैंने कभी घूस नहीं ली। मैंने भ्रष्टाचार को कभी बढ़ावा नहीं दिया। यह प्रक्रिया बेहद लिजलिजी है, यह कानून के खिलाफ है, यह अनुचित और अत्याचारपूर्ण प्रक्रिया है तथा एक ईमानदार और निर्दोष व्यक्ति के खिलाफ शुरू की गयी है।

ऐसा अपराध! यह किसी इनसान के खिलाफ की गयी सबसे जघन्य पाशविकता है— उसे ऐसे अपराध की सजा देना जो

उसने किया ही नहीं है।

किसी निर्दोष को सजा देने से अधिक विनाशकारी कोई अपराध नहीं होता।

अन्याय एक ऐसी बुराई है जिसे सुधारा नहीं जा सकता।

जो कानूनी ढोंग मैं झेल रही हूँ वह इसलिए है, क्योंकि राष्ट्रपति के रूप में मैंने कभी किसी की धौंसपट्टी बर्दाश्त नहीं की।

हो सकता है मैंने गलतियाँ की हों, लेकिन अपराध नहीं किये।

मुझे उन कामों के लिए अन्यायपूर्ण ढंग से सजा दी जा रही है, जिनको करना मेरा कानूनी अधिकार है।

मैंने जो भी कदम उठाये वे कानूनी कदम सही और जरूरी कदम, एक सरकार के कदम थे। मुझसे पहले, ब्राजील के पूर्व राष्ट्रपति द्वारा भी बिल्कुल ऐसे ही कदम उठाये गये थे। उनके कार्यकाल में यह अपराध नहीं था और आज भी यह अपराध नहीं है।

उन्होंने मेरे ऊपर आरोप लगाया है कि मैंने छः अनुपूरक आदेश, छः अतिरिक्त क्रेडिट आदेश प्रकाशित किये और ऐसा करके बजट कानून के खिलाफ अपराध किया। यह झूट है क्योंकि यह आदेश कानून द्वारा अधिकृत हैं।

वे रोजमर्रे के प्रबन्धन सम्बन्धी कार्यों को अपराध मानते हैं।

उन्होंने मुझ पर, प्लानों साफरा (किसानों के हित में चलायी गयी योजना) के भुगतान में देरी करने का आरोप लगाया। यह झूट है।

मैंने इस विषय में कुछ भी तय नहीं किया है। इस योजना को लागू करने में कानूनन मेरी भागीदारी की कोई जरूरत नहीं है।

मेरे आरोपी यह तक नहीं बता सकते कि मैंने कौन सा गैर कानूनी काम किया है।

कौन-सी कार्रवाई? किस तरह की कार्रवाई?

हालाँकि, किसी भी तरह का बकाया नहीं बचा था, न ही कोई कर्ज बाकी था।

किसी लोकतंत्र में एक चुने गये राष्ट्रपति के वैधानिक जनादेश को बजट प्रबन्धन के वैध कार्यों के कारण कभी रोका नहीं जा सकता।

ब्राजील ऐसा करने वाला पहला देश नहीं हो सकता। मैं अपने देश की समस्त जनता से यह भी कहना चाहती हूँ कि इस तख्तापलट का उद्देश्य मुझे सत्ता से हटाना भर नहीं है, बल्कि एक निष्पक्ष चुनाव में प्रत्यक्ष मतदान के जरिये करोड़ों ब्राजीलवासियों के बोट से चुनी हुई राष्ट्रपति को सत्ता से हटाना है।

मेरी सरकार को सत्ताच्युत करके वे वास्तव में उस कार्यक्रम को लागू करने से रोकना चाहते हैं जो 5 करोड़ 40 लाख ब्राजीलवासियों के बहुमत द्वारा पसन्द किया गया था।

इस सत्ता पलट से ना सिर्फ लोकतंत्र के विनाश का खतरा है, बल्कि पिछले कुछ दशकों में यहाँ के लोगों ने जो कुछ उपलब्धियाँ हासिल की हैं, उसके लिए भी खतरा है।

अपने पूरे कार्यकाल में मैंने कानून का शासन सुनिश्चित करने का अथक प्रयास किया है। मेरी सरकार द्वारा किसी भी

सामाजिक आन्दोलन, सामूहिक प्रदर्शन, किसी भी राजनीतिक धारा के प्रदर्शनकारियों के खिलाफ किसी भी तरह की दमनात्मक कार्रवाई नहीं की गयी है।

इस समय देश के सामने सबसे बड़ा खतरा यह है कि उसे अब एक ऐसी सरकार से शासित होना पड़ेगा जिसको जनता ने नहीं चुना है।

एक ऐसी सरकार जो जनता के सीधे मतदान द्वारा नहीं चुनी गयी है। एक ऐसी सरकार जिसके पास ब्राजील की चुनौतियों के समाधान के लिए प्रस्ताव और उसे लागू करने की वैधता मिल जायेगी। एक ऐसी सरकार जो अपने विरोधियों को कुचलने के लालच से खुद को रोक नहीं पायेगी। एक ऐसी सरकार जो सत्ता पलट से जन्मी है। एक कपटपूर्ण महाभियोग।

एक प्रकार के अप्रत्यक्ष चुनाव से पैदा हुई सरकार। एक ऐसी सरकार जो खुद ही हमारे देश के सतत राजनीतिक संकट का सबसे बड़ा कारण है।

इसलिए, मैं आपसे बताती हूँ, आप सभी को, कि मैं गौरवान्वित हूँ कि मैं ब्राजील की प्रथम महिला राष्ट्रपति चुनी गयी हूँ।

उन वर्षों में मैंने अपने जनमत का सम्मान करते हुए गरिमापूर्ण और ईमानदार तरीके से उसका उपयोग किया है, जो मत हमें मिले थे, उनका सम्मान किया।

उन मतदाताओं के लिए अपने देश की जनता की ओर से उन सभी कानूनी प्रावधानों का उपयोग कर लूँगी जो मुझे 31 दिसम्बर तक हासिल हैं, ताकि मैं राष्ट्रपति के रूप में अपने कार्यकाल के अपने जनमत का उपयोग कर सकूँ।

किस्मत ने हमेशा ही मेरे सामने तमाम चुनौतियाँ पेश की हैं, अनेक महान चुनौतियाँ मेरे लिए कुछ अजेय थी, लेकिन मैंने सफलतापूर्वक उनका सामना किया।

मैंने ऐसी यंत्रणादायी पीड़ा सही है जिसे बता नहीं सकती। और अब मैं दोबारा उसी तरह बीमारी की तड़पाने वाली पीड़ा झेल रही हूँ, अन्याय का यह दर्द उसी तरह अकथनीय है। इस समय जो चीज सबसे ज्यादा तकलीफ देती है वह है अन्याय। जो चीज सबसे तकलीफदेह है वह इस बात का अहसास है की मैं एक कानूनी स्वांग और राजनीति का शिकार हूँ। पर मैं निराश होकर बैठी नहीं हूँ। मैं पीछे मुड़कर देखती हूँ और हमने जो काम किये हैं उन पर नजर दौड़ाती हूँ। मैं आगे देखती हूँ कि और किन-किन कामों की हमें जरूरत है और क्या-क्या हम कर सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण यह है कि मैं खुद को देख सकती हूँ और एक ऐसे शख्स का चेहरा सामने होता है जिस पर समय के थपेड़ों के निशान हैं, फिर भी जिसमें विचारों और अधिकारों की रक्षा करने की ताकत है।

मैंने पूरी जिन्दगी लोकतंत्र के लिए लड़ते हुए गुजारी है।

मैंने अपने लोगों की संघर्ष करने की क्षमता पर भरोसा करना

**शेष पृष्ठ 64 पर...**

# नेपाल का क्रान्तिकारी आन्दोलन एकता के नारे और विसर्जन की राजनीति

--विष्णु शर्मा

तेज आर्थिक विकास के सुपरसोनिक दौर में क्रान्ति की रफ्तार भी तेज होनी चाहिए। शायद इसीलिए नेपाल के संसदीय माओ नामधारी क्रान्ति को जल्द पूरा कर लेना चाहते हैं। फौरन से पेशतर।

अगर इसके लिए कुछ मामूली 'समझौते' करने पड़ें तो भी कोई हर्ज नहीं। जैसे सर्वहारा की तानाशाही जैसे 'बदनाम' नारे को छोड़ना। 'लोकतंत्र' के दौर है तानाशाही की बात करना शोभा नहीं देता है।

ऐसे ही अनेक तर्कों के साथ नेपाल का माओवादी आन्दोलन खुद को 'नयी' विश्व मान्यता के अनुरूप ढालने, 'विश्व जनमत' का भरोसा जीतने और 'नयी' तरह की क्रान्ति करने के काम में व्यस्त है। कुल मिला कर वह मार्क्सवादी या नेपाल के सन्दर्भ में माओवादी क्रान्ति को पूरा करने के लिए मार्क्सवाद और माओवाद से समझौता करने, यहाँ तक कि उससे पीछा छुड़ाने को भी तैयार हैं!

नतीजतन नेपाल का माओवादी आन्दोलन तेजी से विखरता जा रहा है।

नेपाल में माओवादी आन्दोलन का बिखराव 2006 से शुरू हुआ। हालाँकि सैद्धान्तिक विचलन और भी पहले तब शुरू हो चुका था जब पार्टी ने 'सत्ता के अलावा सब भ्रम' है के नारे की 'सत्ता में साझेदारी' का नारा दिया था। तो भी जनयुद्ध काल की आवश्यकता और 'आतंकवाद के खिलाफ युद्ध' के परिप्रेक्ष में फौरी तौर पर व्यापक गोलबंदी की दृष्टि से देखने से यह विचलन बाद के विचलनों से गौण ही था।

2006 में तत्कालीन नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने भारत की मध्यस्थता में राजतंत्र के विरुद्ध सात संसदीय पार्टी के साथ मिलकर आन्दोलन करने की घोषणा की। बदलाव के शोर में यह तथ्य छिपा रह गया कि आन्तरिक मामले में बाहरी शक्ति की दखलअंदाजी को आमंत्रित कर भविष्य में ऐसी तमाम दखलंदाजियों के लिए एक बड़ा सुराक खोल दिया गया है। लेकिन आवेग विवेक पर भारी पड़ गया और माओवादी आन्दोलन रूप में आरोहण और अंतरवस्तु में अवरोहण की दिशा में तेजी से बढ़ गया। आज जब यह माओवादी पार्टी और अन्य दल नेपाल के आन्तरिक मामलों में 'भारत' को हस्तक्षेप न करने को कहती है तो उसका असली अर्थ यही होता है कि वे भारत को अपनी ओर से हस्तक्षेप करने को कहती है। लेकिन क्या यह सम्भव है?

2006 में सार्वजनिक होने और जेल में कैद 'हार्डलाइनर्स' के बाहर आने के बाद नेपाल की माओवादी पार्टी में दो लाईन का तीव्र संघर्ष शुरू हो गया। अतीत की कमजोरियों को ठीक कर आन्दोलन को पटरी पर लाने के इरादे से पार्टी के एक बड़े हिस्से ने अन्तरसंघर्ष शुरू किया। इस संघर्ष का नतीजा यह निकला कि माओवादी पार्टी के विसर्जनवादी नेतृत्व ने 'वाम' एकता के छद्म नारे में पार्टी में ऐसे तमाम लोगों को भरना शुरू कर दिया जो जनयुद्ध और माओवादी राजनीति के घोर विरोधी रहे थे। अंततः पार्टी के अन्दर जनयुद्ध विरोधियों का बहुमत हो गया। 2012 तक आते-आते माओवादी पार्टी के अन्दर दो लाईन के साथ-साथ चलने का दौर पूरा हो गया। पार्टी टूट गयी। पार्टी के एक धड़े ने प्रचण्ड और बाबुराम को छोड़, नयी पार्टी का निर्माण किया नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी- माओवादी। इस पार्टी ने आरम्भ से ही बिखरे माओवादियों को एकताबद्ध करने और नवसंशोधनवादियों के खिलाफ संघर्ष चलाने का प्रयास किया। साथ ही संसदवाद और दूसरे संविधान सभा चुनाव का सक्रिय बहिष्कार किया। लेकिन संविधान सभा के चुनाव के बाद इस पार्टी में भी नेतृत्व और कार्यदिशा को लेकर तीव्र विवाद पैदा हो गया और पार्टी फिर विभाजित हो गयी। विभाजन से उपजी निराशा ने 'माओवादियों की एकता' की माँग को वाम राजनीति के केन्द्र में ला दिया। एकता का प्रश्न क्रान्ति का प्रश्न बन गया और किसी भी पार्टी के लिए एकता का विरोध करना असम्भव हो गया। ठीक इसी परिस्थिति में वह खेल शुरू हो गया जिसके लिए फ्रेडरिक एंगेल्स ने कहा था, "एकता के नारे से हमें भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। जिन लोगों के मुँह से ये शब्द सबसे अधिक सुनाई देता है वे ही लोग सबसे अधिक फूट के बीज बोते हैं।"

क्रान्तिकारी दलों के बीच एकता लुभावने नारों की समानता के आधार पर नहीं बल्कि ठोस कार्यदिशा की एकरूपता के आधार पर होती है। एकता इस बात पर निर्भर करती है कि एक होने वाले दलों की रणनीति और कार्यनीति क्या है। इसी को स्पष्ट करने के लिए मोहन वैद्य 'किरण' के नेतृत्व वाली नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी माओवादी (क्रान्तिकारी) ने प्रचण्ड के नेतृत्व वाली एकीकृत नेकपा (माओवादी) के समक्ष 'एकता के छः आधार' पेश किये। जिन तीन आधार पर सहमति नहीं बन सकी वे थे- संसदवाद का विरोध करना, क्रान्ति में बल प्रयोग के सिद्धान्त को मानना और नये

जनवाद की कार्यदिशा को लागू करना। मोहन वैद्य किरण के मुताबिक ये तीन आधार (नेपाल के सन्दर्भ में) मार्क्सवाद और संशोधनवाद को परखने की कसौटी हैं।

जब लगभग एक साल तक इन आधारों पर वार्ता होने के बावजूद एकता की बात नहीं बन सकी तो पार्टी के अन्दर महासचिव बादल की अगुवाई में एक ऐसे गुट का विकास होने लगा जो जनयुद्ध के बाद नेपाली राजनीति स्थिति से उत्पन्न निराशापूर्ण माहौल का फायदा क्रान्ति के आदर्शों को खत्म करने के लिए उठाना चाहता था। तमाम तरह के षड़यंत्र रचे गये। पार्टी के मूल नेतृत्व के विरुद्ध एकता का दवाब बनाने के लिए हस्ताक्षर अभियान चलाया गया और अन्ततः पार्टी का विभाजन हो गया। एकता की जल्दबाजी हमेशा फूट का संकेत होती है। नेपाल की माओवादी पार्टी भी इसका अपवाद नहीं रही। बादल पक्ष ने अपनी तमाम शक्ति का इस्तेमाल प्रचण्ड की पार्टी के साथ पार्टी का पूर्ण विलय करने में लगा दिया। जब सफलता नहीं मिली तो उन्होंने पार्टी के एक हिस्से के साथ सहमति का दावा कर प्रचण्ड के नेतृत्व वाली माओवादी पार्टी से एकता की घोषणा कर दी।

नेपाल के गैर संसदीय वाम आन्दोलन के लिए यह एक बड़ा झटका है। लेकिन इसके सबक भी महत्वपूर्ण हैं। पहला सबक तो यही है कि मात्र संसदवाद का विरोध करना काफी नहीं है बल्कि संसदीय राजनीति का भण्डाफोड़ करना और जनता को उसकी सीमा के बारे में शिक्षित करना बहुत आवश्यक है। नेपाल की पार्टी ने यहाँ पहली चूक की।

दूसरी गलती दो लाईन संघर्ष के दौर में एकता और संघर्ष के द्वन्द्ववादी नियम की कमजोर समझ थी। जब पार्टी ने 2012 में प्रचण्ड की पार्टी से अलग होकर नये दल का गठन किया था तब प्रचण्ड की पार्टी को नवसंशोधनवादी कहा गया। लेकिन जैसे ही प्रचण्ड ने एकता का 'इशारा' किया और दोनों पार्टियों के बीच वार्ता होने लगी तो किरण की पार्टी ने एकता को निरपेक्ष तरीके से ग्रहण किया और प्रचण्ड की पार्टी के असली रूप से जनता को परिचित करवाने की कोशिश नहीं की।

तीसरी चूक पार्टी की दो लाईन संघर्ष के दर्शन को समझने में हुई। पार्टी के अन्दर दो लाईन का संघर्ष हमेशा चलता है। फर्क बस इनता होता है कि अलग-अलग परिस्थितियों में इसका स्वरूप अलग-अलग होता है। कभी यह संघर्ष शत्रुतापूर्ण होता है और कभी गैर-शत्रुतापूर्ण। एक क्रान्तिकारी पार्टी को दो लाईन संघर्ष के इन दोनों स्वरूपों को पहचानना आना चाहिए। बादल ने जब 'राष्ट्रीय जनवाद' खुश्चेव और दंग की लाईन को पार्टी की केन्द्रीय समिति की बैठक में पूरक प्रस्ताव के रूप में पेश किया ठीक उसी वक्त पार्टी को यह समझ जाना चाहिए था कि यह लाईन जिसका विरोध लगभग हर दौर की क्रान्तिकारी पार्टियों ने की, उस लाईन को फिर से प्रस्तुत करना 'मामूली भूल' का परिणाम नहीं है। ऐसे वक्त में पार्टी यह मतभेद जनता और निचले स्तर के पार्टी सदस्यों तक ले जाना चाहिए

था। लेकिन अपनी कमजोरियों के चलते पार्टी के मूल नेतृत्व ने संघर्ष के इस रूप को अन्त तक आम जनता और समर्थकों से दूर रखा।

अब जबकि पार्टी का विभाजन हो गया है तो आशा है कि मोहन वैद्य किरण के नेतृत्व वाली माओवादी पार्टी एक बार अपनी कमजोरियों की गम्भीर समीक्षा करेगी। क्रान्ति कोई फास्टफूड नहीं है कि ऑर्डर करते ही हाथ में आ जाये। यह एक गम्भीर मसला है। अन्य देशों की तरह ही नेपाल में भी क्रान्ति का वस्तुगत आधार अभी भी बना हुआ है लेकिन मनोगत शक्तियों के बिखराव को खत्मकर एक मजबूत वैचारिक आधार तैयार किये बिना जल्दबाजी में इंकलाब नहीं होगा यह बात तय है।



### पृष्ठ 62 का पर...

सीखा है। मैंने कई बार पराजय झेली है और बड़ी जीतें भी हासिल की है।

मुझे अफसोस है कि मैंने कभी यह कल्पना नहीं की थी कि मुझे अपने देश में सत्तापलट के खिलाफ भी लड़ने की जरूरत पड़ेगी।

हमारे नये-नये लोकतंत्र को जो संघर्षों से, बलिदानों से यहाँ तक कि मौतों से बना है, वह इस लायक नहीं है कि तख्ता पलट हो। हाल के महीनों में हमारे लोग सड़कों पर उतर आये। वे सड़कों पर और अधिक अधिकारों के लिए उतरे। और अधिक आगे जाने के लिए। इसलिए मुझे पक्का यकीन है कि लोग सत्तापलट को नकारना जान पायेंगे।

हमारे लोग समझदार हैं और उनके ऐतिहासिक अनुभवों से लैस हैं। ब्राजीलवासी जो तख्तापलट के खिलाफ हैं, वे चाहे किसी भी पार्टी के हों, मैं उन सभी का आह्वान करती हूँ।

सक्रिय रहें, एकता बद्ध हों और धैर्य रखें। लोकतंत्र के लिए संघर्ष की कोई अन्तिम तारीख नहीं होती।

यह स्थाई संघर्ष है, जो हमसे लगातार अपने आपको न्योछावर करने की माँग करता है। फिर से दोहरा दूँ कि लोकतंत्र के लिए संघर्ष की राह अन्तिम तारीख नहीं होती।

तख्तापलट के खिलाफ संघर्ष दीर्घकालिक, यह एक ऐसी लड़ाई है जो जीती जा सकती है और हम उसे जीतेंगे। जीत हम सभी लोगों पर निर्भर है।

आइए, हम दुनिया को दिखा दें कि हमारे देश में लोकतंत्र के करोड़ों समर्थक हैं।

मैं जानती हूँ, और यहाँ उपस्थित बहुत सारे लोग, विशेषकर हमारी जनता यह जानती है कि इतिहास के लिए संघर्ष हमेशा ही मूल्यावन होता है।

लोकतंत्र इतिहास का सही पक्ष है। हम कभी हार नहीं मानेंगे, मैं कभी संघर्ष करना नहीं छोड़ूँगी।

**16 मई, 2016 को (द सेकट) द्वारा प्रेषित,  
अनुवाद : आशु वर्मा**